तत्त्वार्थ-सूत्र

भाग-2

-: हिन्दी विवेचनकार :-

प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी** म.सा.

वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी विरचित

तत्त्वार्थ-सूत्र

भाग-2

हिन्दी विवेचनकार

परम शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** के तेजस्वी शिष्यरत्न बीसवीं सदी के महान योगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर

पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.

संपादक

मरुधर रत्न **पू.आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न **पू.मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म.**

230

प्रकाशन

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.

Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 200/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
विमोचन स्थल : श्री त्रिभूवन तारक श्वे.मू.तपागच्छ जैन संघ-भायंदर
तारीख : दि. 21-8-2022 • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

नमस्कार महामंत्र के बेजोड साधक, निःस्पृह शिरोमणि, बीसवीं सदी के महान योगी **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरिजी म.सा.** द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित 229 व 230 वी पुस्तक **'तत्त्वार्थ सूत्र' हिन्दी विवेचन-भाग-1 और 2** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

जैन धर्म के मर्म का समझने के लिए **'तत्त्वार्थ सूत्र'** एवं अद्‌भूत ग्रंथ है ।

गागर में सागर की भांति इस छोटे से ग्रंथ में जैन धर्म के द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग एवं चरणकरणानुयोग का सुंदर संग्रह किया है ।

कई पाठकों की ओर से उस ग्रंथ के हिन्दी विवेचन की मांग थी, पूज्यश्री ने अथक श्रम लेकर इस ग्रंथ के भावों को लोकभोग्य शैली में प्रस्तुत किया है ।

हमें आशा ही नहीं परंतु पूर्ण विश्वास है कि पूर्व प्रकाशनों की भांति यह प्रकाशन भी खूब लोकापयोगी सिद्ध होगा ।

निवेदक

दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट मंडल

लेखक-संपादक की कलम से...

वि.सं. 2030 की बात हैं ।

जन्मभूमि बाली (राज.) में मुमुक्षुरत्ना कमलाबहन की भागवती दीक्षा का महोत्सव चल रहा था ।

मुमुक्षुरत्ना के वैराग्य प्रेरक संवाद को सुनकर मेरे अन्तर्मन में वैराग्यभाव का बीजारोपण हुआ ! वैराग्य के उस बीज को सिंचन करनेवाले थे–भवोदधितारक पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य ।** पारिवारिक संयोग ऐसे थे कि दीक्षा के लिए सहज अनुमति मिलनेवाली नहीं थी, अतः गृहस्थ जीवन में रहते हुए गुप्त रीति से संयम जीवन की ट्रेनिंग लेनी थी ।

उस अवधि में मेरा S.P.U. College फालना राज. में 1st Year B.Com. का अभ्यास (Study) चल रहा था ।

एक दिन मुंडारा (राज.) में चातुर्मास विराजमान पूज्य गुरुदेवश्री के पास धार्मिक अभ्यास के लिए मैंने मार्गदर्शन मांगा तो उन्होंने कहा, `राजु ! तुम्हारा पंच प्रतिक्रमण का अभ्यास हो चूका है तो अब तुम **तत्त्वार्थ सूत्र** कंठस्थ करो ! तत्त्वार्थ में जैन दर्शन के अधिकांश पदार्थों का समावेश हो जाता है ।'

पूज्यश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने **तत्त्वार्थ सूत्र** कंठस्थ करना प्रारंभ किया ।

पूज्यश्री के प्रशिष्य विद्वद् शिरोमणि **पू.मु.श्री धुरंधरविजयजी म.** उस समय खुडाला–फालना में विराजमान थे उन्होंने मुझे तत्त्वार्थ का अर्थ सिखाया । पंडित सुखलालजी द्वारा आलेखित तत्त्वार्थ सूत्र-हिन्दी विवेचन भी पढा ।

इस सूत्र के अभ्यास से **'जैन धर्म का तत्त्वज्ञान'** में मेरा प्रवेश हुआ ।

इस प्रकार बचपन से ही मुझे इस सूत्र का विशेष आकर्षण रहा ।

संयम जीवन स्वीकार के बाद वि.सं 2039 में पाली (राज.) में पंडितजी रामकिशोरजी पांडेय के पास तत्त्वार्थ सूत्र की विस्तृत संस्कृत टीका का स्वाध्याय किया ।

संयम जीवन के प्रारंभिक काल में एक बार **पू.मुनिप्रवर श्री धुरंधरविजयजी म.** ने मार्गदर्शन-हितशिक्षा देते हुए कहा था–**रत्नसेन म. ! चार प्रकरण, तीन भाष्य व छ कर्मग्रंथों के अभ्यास के बाद चार महापुरुषों के दो-दो ग्रंथ–**

पू. उमास्वातिजी का तत्त्वार्थ व प्रशमरति ।

पू. हीरभद्रसूरिजी का अष्टक व षोडशक ।

पू. हेमचन्द्राचार्यजी का वीतराग स्तोत्र व योगशास्त्र ।

पू. यशोविजयजी का ज्ञानसार व अध्यात्मसार तथा पू. विनयविजयजी का शांत सुधारस अवश्य कंठस्थ करना !

पूज्य गुरुदेवश्री की असीम कृपा से ये सभी ग्रंथ प्रारंभिक जीवन में कंठस्थ किए थे, सिर्फ अध्यात्मसार अधुरा रह गया था ।

दीक्षा के प्रथम वर्ष में चातुर्मास दरम्यान पूज्य परमोपकारी गुरुदेवश्री की ही प्रेरणा से वाचकवर्य उमास्वातिजी द्वारा विरचित `प्रशम रति' ग्रंथ कंठस्थ किया–उस ग्रंथ में तत्त्वार्थ के सभी पदार्थों का पद्य शैली में समावेश है ।

पाटण चातुर्मास दरम्यान **सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्** का अभ्यास करते समय हेमचन्द्राचार्यजी ने **'उपोमास्वाति-संग्रहीतारः'** कहकर पूज्य उमास्वातिजी को **'श्रेष्ठ संग्रहकार'** कहा है । तभी से मेरे दिल में पू. उमास्वातिजी के प्रति विशेष आदरभाव था, जिन्होंने हमारे जैसे बाल जीवों के प्रतिबोध के लिए ऐसे अनमोल ग्रंथों की रचना की है ।

तत्त्वार्थ की महिमा

पूर्वधर महर्षि आर्यरक्षितसूरिजी ने सभी आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त किया था । द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकयानुयोग ।

द्रव्यानुयोग में षड्द्रव्य, द्रव्यों के गुण-पर्याय आदि के स्वरुप का विस्तार से वर्णन है । सुयगडांग, समवायांग आदि आगम ग्रंथ तथा सन्मतितर्क, तत्त्वार्थसूत्र, नवतत्त्व, द्रव्य-गुण-पर्यायनोरास आदि प्रकरण ग्रंथों में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है ।

सूर्य प्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रंथों में तथा क्षेत्र समास बृहत्संग्रहणी, छट्ठा कर्मग्रंथ आदि प्रकरण ग्रंथों में गणितानुयोग की प्रधानता है ।

आचारांग, दशवैकालिक आदि आगम ग्रंथों में तथा यतिदिनचर्या, श्राद्धविधि, योगशास्त्र आदि ग्रंथों में चरणकरणानुयोग की प्रधानता है ।

ज्ञाताधर्म कथा, उपासक दशांग आदि आगम ग्रथों में तथा त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र, उपदेश प्रसाद, उपदेशमाला आदि प्रकरण ग्रंथों में धर्मकथानुयोग की प्रधानता है ।

रत्नत्रयी की आराधना स्वरुप मोक्षमार्ग में अपेक्षा से क्षायिक भाव के चारित्र की प्रधानता है । परंतु ज्ञान और चारित्र की आराधना का मूल सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन की शुद्धि द्रव्यानुयोग के निर्मलबोध पर निर्भर करती है ! अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, शुद्धि व निर्मलता के लिए द्रव्यानुयोग का अभ्यास खूब जरुरी है ।

महोपाध्याय यशोविजयजी म. ने द्रव्य-गुण-पर्याय के रास में तो यहां तक कह दिया है–

'विना द्रव्य अनुयोग विचार,
नहि चरणकरणनो सार !'

द्रव्यानुयोग के गहन अभ्यास के लिए यदि साधु को

निर्दोष-भिक्षा सुलभ न हो तो आधाकर्मी भिक्षा की भी छूट दी गई है ।

इससे स्पष्ट है कि चारित्र की शुद्धि का आधार भी द्रव्यानुयोग का अभ्यास है ।

पूर्वधर महर्षि वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने भव्य जीवों के हित के लिए सूत्रात्मक शैली में `तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की रचना की है । इस ग्रंथ में उन्होंने द्रव्यानुयोग का बहुत ही सुंदर विश्लेषण किया है तो इसके साथ ही गणितानुयोग और चरण करणानुयोग का भी सुंदर संग्रह किया है ।

उमास्वातिजी म. ने इस छोटे से ग्रंथ में जैन शासन को मान्य तीनों अनुयोगों का समावेश कर गागर में सागर भर दिया है ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने `स्वरचित सिद्धहैम शब्दानुशासनम्' में `उपोमास्वाति संग्रहीतारः' कहकर श्रेष्ठ संग्रहकार की उपमा दी है ।

`तत्त्वार्थ सूत्र' एक ऐसा अनमोल ग्रंथ है, जिसे वर्तमान के चारों जैन संप्रदाय मान्य करते है ।

श्वेतांबर की भांति दिगंबरों ने भी तत्त्वार्थ सूत्र को खूब महत्त्व दिया है, परंतु कुछ सुत्रों मतभेद दिखाई देता है ।

दिगंबर इस `तत्वार्थ सूत्र' को मोक्ष शास्त्र के रुप में मानते हैं, अतः उसके स्वाध्याय आदि पर खूब भार देते है ।

– इस तत्त्वार्थ सूत्र पर संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएं रची गई हैं ।

– उमास्वातिजी ने स्वयं ही इस तत्त्वार्थ सूत्र पर `स्वोपज्ञ भाष्य' रचा है ।

उसके बाद सिद्धसेन गणी, हरिभद्रसूरिजी, देवगुप्तसूरिजी यशोविजयजी आदि ने भी टीकाएं रची है ।

– दिगंबर परंपरा में भी इस सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, श्रुतसागरी आदि टीकाएं है ।

वर्तमान में काल के प्रभाव से प्राकृत-संस्कृत भाषा का भी अभ्यास घटता जा रहा है ।

निकट भूतकाल में इस तत्त्वार्थ सूत्र पर अनेक गुजराती विवेचन भी तैयार हुए है ।

हिन्दी भाषा में लगभग 90-100 वर्ष पूर्व पं.सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र पर सारग्राही-संक्षिप्त विवेचन तैयार किया था । जो लगभग अप्राप्य है ।

कई पाठकों की ओर से विनती थी कि इस तत्त्वार्थ सूत्र पर अति विस्तार भी नहीं और अति संक्षेप भी नहीं, किन्तु मध्यम रुचिवालों को ध्यान में रखकर हिन्दी विवेचन तैयार किया जाय ।

पाठकों की विनती को ध्यान में रखकर यह मध्यमश्रेणी का हिन्दी विवेचन तैयार किया है ।

संयम जीवन के वर्षों बाद पूज्य गुरुदेवश्री की निरंतर बरस रही असीम कृपा वर्षा से ही मैंने हिन्दी भाषा में सरल व सुबोध भाषा में जीवविचार, नवतत्त्व, दंडक, सग्रहणी, तीन भाष्य तथा छह कर्मग्रंथ, वैराग्यशतक, इन्द्रिय पराजय शतक तथा संबोध सित्तरी आदि का हिन्दी विवेचन तैयार किया था ।

नाकोडाजी पाठशाला (राज.) तथा दक्षिण भारत की हिन्दी भाषी प्रजा के लिए ये पुस्तके खूब उपयोगी बनी ।

इसी बीच मुंबई व नेल्लोर आदि के तत्त्वपिपासु लोगों की विनती थी कि आप तत्त्वार्थ सूत्र पर हिन्दी विवेचन तैयार करने की कृपा करो ।

तत्त्वार्थ सूत्र में निर्दिष्ट कई सूत्रों का हिन्दी विवेचन आंशिक रुप से जीव विचार, नवतत्त्व, वंदित्तुसूत्र विवेचन, शांत सुधारस आदि में आ जाता है ।

प्रारंभ में मैंने अपने पूर्व प्रकाशनों में से तत्त्वार्थ सूत्र के पदार्थों के विवेचन को संग्रहित किया, तत्पश्चात् **सुविनीत मुनिश्री स्थूलभद्रविजयजी** ने तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्र क्रमानुसार उस विवेचन को Adjust किया और जहां जहां अपूर्णता थी,

वहां–वहां गुजराती भाषा में पूर्व प्रकाशित पू. आ.श्री राजशेखरसूरीश्वरजी म., प्रभुदास बेचरदास तथा पं. प्रवीणभाई, धीरजभाई आदि के विवेचनों के आधार पर अतिविस्तृत नहीं और अति संक्षिप्त भी नहीं, बल्कि मध्यम शैली में यह विवेचन तैयार किया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है ।

भाषा शैली में परिष्कार कर इसे लोक भोग्य बनाने का प्रयास किया हैं, मुझे विश्वास है कि यह विवेचन हिन्दी भाषी तत्त्व पिपासु पाठकों के लिए अवश्य उपयोगी बनेगा ।

युवा प्रतिबोधक **पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय रत्नसुंदर-सूरीश्वरजी म.सा.** ने **'शुभेच्छा-संदेश'** भेजकर ग्रंथ के गौरव में अभिवृद्धि की है ।

सुप्रसिद्ध गीतकार **आचार्य श्री मोक्षरतिसूरिजी म.** ने ग्रंथ के अनुरुप प्रस्तावना लिखकर ग्रंथ की महत्ता बढाई हैं, एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

इसमें जो कुछ भी शुभ है वह सब परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रवर्त्तक पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा,** परमोपकारी, भवोदधि तारक, परमाराध्यपाद गुरुदेव **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** तथा मेरे आत्म हितैषी, वात्सल्यमूर्ति **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म.** की अदृश्य कृपा वृष्टि का ही फल है ।

प्रस्तुत पुस्तक के संकलन में नामी-अनामी अनेक लेखकों की अनेक पुस्तकों का आलंबन लिया है, मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ है ।

दो भागों में प्रकाशित इस पुस्तक में कहीं भी जिनाज्ञा विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।

आराधना भवन
रोहा (कोंकण)
दि. 15-4-2022

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी
गुरुचरणो पासक
रत्नसेनसूरि...

अवश्य पठनीय ग्रंथः तत्त्वार्थ सूत्र

लेखक : परम शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न आशुकवि
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय मोक्षरतिसूरीश्वरजी म.

तत्त्वार्थ एक ऐसा लघु ग्रंथ है, जिस में बहुत से पदार्थों का महासंग्रह किया गया है, इसीलिये कलिकाल सर्वज्ञ **श्री हेमचंद्राचार्य भगवंत** ने अपने सिद्धहेम व्याकरण में `उपमोस्वातिः संगृहीतारः' । ऐसा सूत्र बनाकर इस ग्रंथकार को, **''संग्रहकारों में अग्रणी''** का अलंकरण दिया है, संग्रह की ऐसी कला सभी विद्वानों को हस्तगत नहीं होती ।

पदार्थों के सिंधु को ग्रंथ-बिंदु में समाविष्ट करना कितना कठिन कार्य है । ग्रंथकार ने खुद कलात्मक ढंग में प्रस्तुत किया हैः **''शिरसा गिरिं बिभित्सेद्...''** अर्थात् वह व्यक्ति अपने सिर से पहाड को तोडना चाहता है, अपने हाथों से धरती को उठाना चाहता है, कुशाग्र (घास की नोक से समुद्र को नापना चाहता है, मेरुगिरि को अपने हाथ से हिलाना चाहता है, हवा से भी तेज गति से दौडना चाहता है, खजुए के तेज से सूरज को हराना चाहता है...जो व्यक्ति महान् जिनवचनों का लघुग्रंथ में संग्रह करना चाहता है ।''

यदि कोई चाहता हो कि मुझे जैनदर्शन को समग्रतया किसी एक ग्रंथ द्वारा समझना है, तो उसे **तत्त्वार्थ सूत्र** का अभ्यास करना चाहिए । धर्मकथा को छोडकर बाकी के तीनों-चरणकरण, गणित और द्रव्य-अनुयोगों का यहां सर्वांगीण परिचय मिलता है ।

आइए, कुछ ऐसे पदार्थों को देखते हैं, जिसका सर्व प्रथम निरूपण इसी ग्रंथ में हुआ हो ।

(1) महाव्रतों की 5-5 भावनाएँ, कुल मिलाकर 25 भावनाओं का उल्लेख ।

(2) तीर्थंकर नामकर्म को बांधने में हेतुभूत 20 प्रकार की आराधनाएं ।

(3) अधामाधम–अधम आदि 6 प्रकार की आत्माओं का वर्णन, इस विषय पर तो बाद में स्वतंत्र ग्रंथ की रचना हुई है ।

(4) मैत्री-प्रमोद-कारुण्य और माध्यस्थ्य 4 भावनाएं ।

तत्त्वार्थसूत्र की पदार्थ-संकलना इस प्रकार है :–

(1) प्रथम सूत्र में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग बताया, तत्त्वार्थ में श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा गया, जीव-अजीव आदि तत्त्व सात प्रकार के कहे गए, यहीं पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान का स्वरुप आदि बताया, नयों का विवरण किया, (2) - (3) - (4) अध्यायों में जीवतत्त्व का विवेचन किया (5) धर्मास्तिकाय आदि अजीव पदार्थों का विज्ञान बताया । (6) पुण्य-पाप आस्त्रवतत्त्व (7) अणुव्रतों-महाव्रतों के स्वरुप व अतिचारों का वर्णन (8) बन्ध तत्त्व...(6) व (8) अध्यायों में कर्म विज्ञान दर्शाया गया (9) संवर और निर्जरा तत्त्व....(7) व (9) अध्यायों में सम्यक् चारित्र का स्वरुप बताया गया और (10) मोक्ष तत्त्व के वर्णन के साथ तत्त्वार्थ सूत्र पूर्ण किया गया ।

तत्त्वार्थ सूत्र का मुख्य उद्देश सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का स्वरूपादि-दर्शन ही है, जिस में प्रसंगानुसार जीवादि सात तत्त्वों का स्वरुप भी विवेचन किया गया ।

आइए, इस सूत्र की कुछ पसंदीदा बातें करें...

यह स्पष्ट है कि ग्रंथकार का मुख्य उद्देश पदार्थ निरूपण का है फिर भी यहां एक सूत्र में से वैराग्य, संवेग की सुगंध आ रही है:

जगत्काय स्वभावौ च संवेग-वैराग्यार्थम्

अगर जगत को देखना सीख लें तो दिल पल-पल नए-नए संवेग रंगों से छलकने लगे...और अगर शरीर की वास्तविकता नजर आ जाए तो दिल वैराग्य-रस से तर-ब-तर हो जाए । मोक्षमार्ग में संवेग-वैराग्य दोनों गुण कितने उपयोगी है, यहाँ खूब प्रसिद्ध है ।

◆ **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** इस प्रथम सूत्र अवतरणिका के रुप में ग्रंथकार ने आद्यकारिका में एक बहुत ही प्रेरक गाथा अंत में रखी है ।

नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात् पर मिदमेवे-ति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ।।

जैनशासन की स्थापना का मूलभूत उद्देश इस गाथा में प्रतिध्वनित

हो रहा है, जैनशासन की मोक्षैकलक्षिता को ध्यान में रखते हुए रची गई यह गाथा, मानों ग्रन्थकार की शास्त्र-परिकर्मित प्रज्ञा की साक्षी है । पूर्वधर महर्षि ग्रंथकार द्वारा श्रुत-क्षीरसागर का मंथन करके निकाला गया अमृत यानी यह गाथा ! ग्रंथकार लिखते हैं कि इस जगत् में मोक्षमार्ग से बढकर हितोपदेश एक भी नहीं है, इसीलिए मैं यहां पर मोक्षमार्ग ही बताऊंगा ।

◆ कई बार ऐसा प्रश्न सामने आना है कि, शास्त्रों में एक तरफ **``संसार में सुख है ही नहीं, संसार अनंत दुःखमय है, संसार दुःख रूप, दुःखफलक, दुःखानुबंधी है, संसार में तो केवल दुःख ही दुःख है ।''** एसा वर्णन मिलता है, और दूसरी तरफ शास्त्रों में एसा भी वर्णन मिलता है कि जो धर्म करता है उसे स्वर्ग के सुख मिलते हैं तो यह कैसी दोरंगी बात ! एक तरफ एसा कहना कि संसार में सुख है ही नहीं और दूसरी तरफ एसा कहना कि धर्म करेगा स्वर्ग के सुख (जो कि संसार में ही तो है) पाएगा ! इस अजीब समस्या का समाधान यहां पर अंतिम कारिका के अंतिम श्लोकों में पाया जाता है ।

लोके चतुष्विहार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाऽभावे, विपाके मोक्ष एव च ।। इत्यादि,

अर्थात् इस जगत् में अलग-अलग चार परिस्थितिओं में लोग सुख शब्द का प्रयोग करते हैं **(1) विषये :–** विषयों यानी इन्द्रियों के मनपसंद पदार्थों के भोग-उपभोग में लोग सुख महसूस करते हैं ।

(2) वेदनाभावे :– जीवन में जब कोई दुःख-पीडा नहीं हो तब व्यक्ति अपने आप को सुखी मानने लगता है ।

(3) विपाके :– पुण्यकर्म के विपाक के समय में जब चारों ओर से सन्मान-प्रशंसा प्राप्त हो, सभी झुकते रहे, मन चाहा मिले, सोचा हुआ होता रहे, दुर्गुणों-दोषों को कोई जान न सके ऐसे, कषायों की सफलता के प्रसंगों को व्यक्ति **'सुख'** मानता है, और

(4) मोक्ष :– मोक्ष यानी मुक्ति, आत्मा जब कर्मों के बन्धनों से संपूर्ण मुक्ति, पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करे, तब सुखी बनती है ।

इन चार परिस्थितिओं में लोग **'सुख'** शब्द का उपयोग करते हैं परन्तु ज्ञानी भगवंत तो सिर्फ और सिर्फ मोक्ष में ही सुख मानते हैं और

कहते हैं । जहां कहीं पर भी शास्त्रकार एसा लिखते हैं कि **''धर्म करे उसे स्वर्ग के सुख मिले ।''** वहां समझ लेना चाहिए कि यहां पर सुख शब्द का उपयोग ज्ञानियों ने केवल लोक-भाषानुवाद के रुप में किया है **'स्वर्ग में सुख'** लोग मानते हैं, इसलिए इस लोक व्यवहार के बल पर ही शास्त्रकारों ने भी **'स्वर्ग के सुख'** जैसा प्रयोग किया है !

ग्रंथकार कहते हैं कि तीर्थंकर भगवंतों ने जगत् के जीवों को इस अनंत दुःखमय संसार से पार उतारने की भावना से ही धर्मतीर्थ की स्थापना की है, जगत के सारे जीवों को मोक्षसुख-शाश्वतसुख प्राप्त कराने की भावना ही तो तीर्थंकर नामकर्म के बंध की जनेता है, अतः स्पष्ट है कि संसार केवल दुःखमय है **'सुख'** तो सिर्फ मोक्ष में ही है ! विषय-कषाय जनित **'अनुभव'** को **'सुख'** नहीं मानते हैं शास्त्रकार !

◆ तत्त्वार्थ के दो सूत्र अधिक ध्यानपात्र लगे हैं,

प्रमत्त–योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।।7-8।।

सामान्य रुप से कोई भी धर्मशास्त्र हिंसा की व्याख्या इतनी ही करेगा कि किसी को जान से मार डालना वह हिंसा है । लेकिन यहां ग्रंथकार कहते हैं कि किसी को प्रमादवश मार डालना, वह हिंसा है । आत्म कल्याणकारी धर्मसाधक मोक्षदायक कोई भी कार्य जब अप्रमत्त भाव से विधिपूर्वक किया जाए तो उसमें अनिवार्य रूप से होती जीवों की हत्या को हिंसा (यानी पाप) नहीं कहा गया...बाकी, प्राण हानि तो कहां नहीं है ? विहार-लोच-गोचरी-प्रतिक्रमण-सभी धार्मिक विधि विधान में भी हर जगह वायुकायादि जीवों की **'हिंसा'** होती है ! **धर्मस्थान निर्माण** में **'पाप'** नहीं माना जाता...इसी तरह जिनभवन निर्माण, जिनमूर्ति पूजा आदि विहित अनुष्ठानों को हिंसामय नहीं मानना चाहिए । ये सारे अनुष्ठान मोक्षदायक धर्म साधक हैं, ग्रंथकार के उपरोक्त सूत्रानुसार, जब ये सारे कार्य विधिपूर्वक अप्रमत्तता पूर्वक किए जाए तो इस में होती प्राणहानि **'हिंसा'** ही नहीं है ।

और एक सूत्र

मूर्च्छा परिग्रहः ।।7-12।।

ग्रंथकार यहां पर परिग्रह-पाप की Perfect व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि `मूर्च्छा ही परिग्रह है ।' जो लोग **'परिग्रह'** समझ कर वस्त्र-पात्र के

त्याग में ही **'महाव्रत'** मान रहे हैं, उन्हें यह सूत्र सूक्ष्मबुद्धि से सोचना चाहिए। बिना मूर्च्छा के अगर आहार-शरीर का ग्रहण-धारण, महाव्रतों के लिए बाधक नहीं बनता हो, तो वस्त्र-पात्र क्यों नहीं ? ये भी तो संयम साधना, जीव रक्षा व शासन निन्दा निवारण के लिए उपयोगी है।

अध्यात्मसार, अध्यात्ममत परीक्षा, ज्ञानसार, प्रतिमाशतक आदि ग्रंथों में इन दोनों विषयों पर विस्तार से विवचेन हैं।

–ये तो कुछेक पसंदीदा बाते बताई, बाकी तत्त्वार्थ सूत्र तो ज्ञान-विज्ञानका महासागर है।

46 सालों से निरंतर एकाशनव्रती **पूज्यपाद आचार्य भगवंत श्री विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** एक समर्थ लेखक-विवेचक हैं। सूर्य की पहली किरण से लेकर विदाई तक अपने आवश्यक कार्यों को छोडकर वे पूरे दिन चिंतनमग्न-लेखनमग्न रहते हैं। लगातार चलते रहते शासन-प्रभावक अनुष्ठानों के बीच भी वे अपने लेखन कार्य के लिये समय चुरा लेते हैं। सतत लिखना, सुंदर लिखना और सरल लिखना तीनों दुर्लभ विशेषताओं का संगम इनकी लेखनी में दिखता है, जब कभी भी हिन्दी भाषा की पुस्तकों की बात निकलती है, तब सब से पहले इनका नाम याद आता है। कथा-विवेचन-चिंतन-प्रवचन-इतिहास...शायद ही कोई विषय बाकी रह गया होगा, इनकी द्विशताधिक पुस्तकों में।

आशा है, अन्य पुस्तकों की तरह इनकी यह पुस्तक भी तत्त्व जिज्ञासुओं को तृप्ति प्रदान करेगी।

सफल सर्जनयात्रा की नई-नई उपलब्धिओं के लिये हार्दिक मंगल कामना के साथ...

विजय मोक्षरतिसूरि

सं. 2078 प्रभुवीर जन्म कल्याणक

वडाला-मुंबई

अनुक्रमणिका

क्र.	क्या ?	पृष्ट नं
6.	**छठा अध्याय–**योग का स्वरूप	**1**
	आश्रव तत्त्व	4
	पुण्य और पाप कर्म का आश्रव	5
	आश्रव के भेद	6
	सांपरायिक आश्रव	7
	भावों के आधार पर होनेवाले कर्म आश्रव में भेद	11
	अधिकरण के भेद	14
	जीव अधिकरण के 108 भेद	15
	अजीव अधिकरण के भेद	16
	ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के आश्रव	19
	असाता वेदनीय कर्म के आश्रव	20
	साता वेदनीय कर्म के आश्रव	21
	दर्शन मोहनीय कर्म के आश्रव	23
	चारित्र मोहनीय के आश्रव	25
	नरक गति आयुष्य का आश्रव	26
	तिर्यंच गति के आयुष्य का आश्रव	27
	मनुष्य गति के आयुष्य का आश्रव	28
	नरक आदि तीन गति के आयुष्य का संयुक्त आश्रव	29
	देवगति के आयुष्य के आश्रव	29
	अशुभ नाम कर्म के आश्रव	30
	शुभ नाम कर्म के आश्रव	31
	तीर्थंकर नाम कर्म के आश्रव	31
	नीच गोत्र के आश्रव	36
	उच्च गोत्र के आश्रव	36
	अन्तराय कर्म के आश्रव	37
	अध्याय-7 चार्ट	40
7.	**सातवाँ अध्याय**	**43**
	व्रत का स्वरूप	43
	पांच व्रतों के मुख्य दो भेद	44
	महाव्रतों के विशुद्ध पालन हेतु आवश्यक भावनाएँ	48
	महाव्रतों में स्थिरता हेतु सभी व्रतों में सामान्य प्रथम भावना	52
	सभी व्रतों में सामान्य दूसरी भावना	54
	व्रतों की स्थिरता हेतु मैत्री आदि चार भावनाएँ	56
	संवेग और वैराग्य की पुष्टि हेतु अन्य भावना	58
	हिंसा का स्वरूप	59
	असत्य का स्वरूप	63
	चोरी का स्वरूप	64
	अब्रह्म का स्वरूप	66
	परिग्रह का स्वरूप	68
	व्रती का स्वरूप	69
	व्रती के दो भेद	71
	अगारी व्रती का स्वरूप	71
	गुणव्रत और शिक्षाव्रत का स्वरूप	72
	संलेखना का स्वरूप	80
	सम्यग्दर्शन के अतिचार	81
	बारह व्रतों के अतिचारों की संख्या	82
	प्रथम व्रत के पाँच अतिचार	83
	दूसरे व्रत के अतिचार	85
	तीसरे व्रत के अतिचार	87
	चौथे व्रत के अतिचार	89
	पाँचवे व्रत के अतिचार	92
	छठे व्रत में अतिचार	94
	सातवें व्रत के अतिचार	96
	आठवें व्रत के अतिचार	97
	नौवें व्रत के अतिचार	98
	दसवें व्रत के अतिचार	101
	ग्यारहवें व्रत के अतिचार	102
	बारहवें व्रत के अतिचार	103
	संलेखना व्रत के अतिचार	104
	दान का स्वरूप	106
	दान की क्रिया में विशेषता से फल में भेद	107
8.	**आठवाँ अध्याय**	**115**
	कर्मबंध के हेतु	115
	बंध की व्याख्या	119
	बंध के भेद	119
	प्रकृतिबंध के मूलभेद	122

क्र.	क्या ?	पृष्ट नं
	आठ कर्म के उत्तर भेदों की संख्या	123
	ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद	124
	दर्शनावरणीय कर्म के भेद	126
	वेदनीय कर्म के भेद	129
	मोहनीय कर्म के भेद	131
	आयुष्य कर्म के भेद	142
	नामकर्म के भेद	144
	गोत्र कर्म	161
	अंतराय कर्म के भेद	161
	कर्मों का स्थितिबंध	163
	रसबंध का स्वरूप एवं कर्मों में फल देने की शक्ति	165
	निर्जरा का स्वरूप	168
	प्रदेशबंध का स्वरूप	170
	पुण्य प्रकृति	174
	अध्याय-8 चार्ट	176
9.	**नौवाँ अध्याय**	**180**
	संवर का स्वरूप	180
	संवर और निर्जरा के उपाय	181
	गुप्ति का स्वरूप	181
	समिति का स्वरूप	183
	धर्म का स्वरूप	184
	अनुप्रेक्षा का स्वरूप	189
	परिषह का स्वरूप	195
	बाईस परीषह	196
	गुणस्थानकों में परिषह का वर्णन	198
	तेरहवें गुणस्थानक में परीषह	199
	नौवें गुणस्थानक में परीषह	199
	किस कर्म के उदय से कौन से परीषह होते हैं ?	200
	एक साथ संभवित परीषह	202
	चारित्र का स्वरूप	202
	तप का स्वरूप-बाह्य तप	205
	अभ्यंतर तप	210
	प्रायश्चित्त के भेद	210
	विनय के भेद	212
	वैयावृत्त्य के भेद	213
	स्वाध्याय के भेद	214
	व्युत्सर्ग के भेद	214

क्र.	क्या ?	पृष्ट नं
	ध्यान का स्वरूप	215
	ध्यान के काल का प्रमाण	215
	ध्यान के भेद एवं फल	216
	आर्तध्यान का प्रथम भेद	217
	आर्तध्यान का दूसरा भेद	218
	आर्तध्यान का तीसरा भेद	219
	आर्तध्यान का चौथा भेद	220
	गुणस्थानकों में आर्तध्यान	222
	रौद्रध्यान के भेद और गुणस्थानक	223
	धर्मध्यान के भेद और अधिकारी	227
	शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों के अधिकारी	232
	शुक्ल ध्यान के अंतिम दो भेदों के अधिकारी	233
	शुक्ल ध्यान के चार भेद	234
	शुक्ल ध्यान में योग का व्यापार	237
	शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदो में विशेषता	237
	दूसरे भेद की विशेषता	238
	वितर्क की व्याख्या	238
	विचार की व्याख्या	239
	निर्जरा में भेद	239
	निर्ग्रंथ के भेद	241
	पाँच निर्ग्रंथ संबंधी विशेष विचार	244
	अध्याय-9 चार्ट	248
10.	**दसवाँ अध्याय**	**250**
	केवलज्ञान का कारण	250
	कर्मक्षय के हेतु	251
	मोक्ष की व्याख्या	252
	किन भावों का अभाव होने पर मोक्ष की संभावना	252
	कर्मक्षय से आत्मा की ऊर्ध्वगति	253
	मुक्तात्मा के ऊर्ध्वगमन का कारण	254
	सिद्धों के स्वरुप की विचारणा	256
	अध्याय-10 चार्ट	263
	संबंध काटिका	264
	अन्तिम उपदेश रूप कारिका	270
	तत्त्वार्थ सूत्र प्रशस्ति	276
	तत्त्वार्थ मूलसूत्र	277

6

छठा अध्याय

जीवादि सात तत्त्वों में से अब तीसरे आश्रव तत्त्व का वर्णन करते हैं–

योग का स्वरूप

काय–वाङ्–मनः कर्मयोगः ।।6–1।।

सामान्य अर्थ :– काया, वचन और मन की क्रिया–योग है ।

विवेचन :– वैसे तो योग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, यहाँ योग अर्थात् आत्मप्रदेशों में होनेवाला स्पन्दन । पुद्गल के सम्बन्ध से आत्मप्रदेशों में जो हलन–चलन होती है, उसे योग कहते हैं । यह योग–वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से और पुद्गल के आलंबन से पैदा होने वाली आत्मिक शक्ति है । आत्मिक शक्ति एक होने पर भी उसके उपयोग के साधन तीन हैं–

1) काय योग :– शरीर के आलबंन से आत्मिक शक्ति का उपयोग **काय योग** है । हलन–चलन आदि शरीर संबंधी क्रिया, काय-योग से होती है ।

2) वचन योग :– वचन के आलबंन से आत्मिक शक्ति का उपयोग **वचन योग** है । किसी भी विषय में बातचीत की क्रिया, वचन-योग से होती है ।

3) मनोयोग :– मन के आलंबन से आत्मिक शक्ति का उपयोग **मनोयोग** है । किसी भी विषय के चिंतन की क्रिया मनोयोग से होती है ।

इन तीन प्रकार के योगों के कुल 15 भेद हैं – काययोग के 7, वचन और मनोयोग के 4–4 ।

काययोग के 7 भेद–

1) औदारिक काययोग :– औदारिक शरीरधारी प्राणी के गमनागमन आदि क्रिया करते समय आत्मा का जो व्यापार होता है अर्थात् औदारिक शरीर द्वारा आत्मिक शक्ति का जो उपयोग होता है, वह औदारिक काययोग है ।

2) औदारिक मिश्र काययोग :– औदारिक शरीर के साथ वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर अथवा कार्मण शरीर के मिश्रणवाले शरीर की चेष्टा के समय आत्मा का जो व्यापार होता है, वह **औदारिक मिश्र काययोग** है । मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने के साथ आत्मा ओजाहार के पुद्‌गलों को ग्रहणकर शरीर का निर्माण शुरू करती है । जब तक शरीर पूर्ण रूप से तैयार नहीं होता है, तब तक काया की प्रवृत्ति औदारिक और कार्मण मिश्र होती है ।

इसी प्रकार जब कोई मनुष्य या तिर्यंच वैक्रिय शरीर बनाना प्रारंभ करता है तब औदारिक के साथ वैक्रिय शरीर का मिश्रण होता है और जब कोई आहारक लब्धिधर साधु आहारक शरीर बनाना प्रारंभ करे तब औदारिक के साथ आहारक शरीर का मिश्रण होता है । इन तीनों प्रसंगों में औदारिक शरीर की मुख्यता के कारण इसे औदारिक मिश्र काययोग कहते है ।

3) वैक्रिय काययोग :– वैक्रिय शरीरधारी प्राणी के गमनागमन आदि चेष्टा करते समय आत्मा में जो व्यापार होता है, वह वैक्रिय काययोग है ।

4) वैक्रिय मिश्र काययोग :– वैक्रिय शरीर के साथ औदारिक अथवा कार्मण शरीर के मिश्रणवाले शरीर की चेष्टा के समय आत्मा का जो व्यापार होता है, वह वैक्रिय मिश्र काययोग है । देव और नरक गति में उत्पन्न होने के साथ ही आत्मा ओजाहार के पुद्‌गलों को ग्रहण कर शरीर का निर्माण शुरू करती है । जब तक शरीर पूर्ण रूप से तैयार नहीं होता है, तब तक काया की प्रवृत्ति वैक्रिय और कार्मण मिश्र होती है ।

5) आहारक काययोग :– आहारक शरीरधारी के गमनागमन आदि चेष्टा करते समय आत्मा का जो व्यापार होता है, वह आहारक काययोग है ।

6) आहारक मिश्र काययोग :– आहारक शरीर के साथ औदारिक शरीर के मिश्रणवाले शरीर की चेष्टा के समय आत्मा का जो व्यापार होता है, वह आहारक मिश्र काययोग है ।

7) कार्मण काययोग :– कार्मण और तैजस शरीर जब अकेला होते हैं तब (विग्रह गति में) आत्मा में जो व्यापार होता है, वह **कार्मण काययोग** है ।

वचनयोग के 4 भेद–

1) सत्य वचनयोग :– जिस वस्तु का जो स्वरूप हो, अर्थात् जो गुण, स्वभाव या धर्म हो उसे उसी रूप में बोलना, वह सत्य वचनयोग है ।

2) असत्य वचनयोग :– जिस वस्तु का जो स्वरूप न हो, उस रूप में बोलना, वह असत्य वचनयोग है ।

3) सत्य मृषा वचनयोग :– थोडा सच और थोड़ा झूठ बोलना, वह सत्यमृषा (मिश्र) वचनयोग है ।

4) असत्य–अमृषा वचनयोग :– जो वचन व्यावहारिक दृष्टि से सच्चा या झूठा न हो वह बोलना असत्य–अमृषा वचन योग है । व्यवहार से किसी को **``आओ !'' ``पधारो !'' ``बैठो''** आदि बोलना, वह असत्य–अमृषा वचनयोग है ।

मनोयोग के 4 भेद–

1) सत्य मनोयोग :– जिस वस्तु का जो स्वरुप हो, अर्थात् जो गुण, स्वभाव या धर्म हो उसे उसी रुप में सोचना, वह सत्य मनोयोग है ।

2) असत्य मनोयोग :– जिस वस्तु का जो स्वरुप न हो उसे उस रुप में सोचना, वह असत्य मनोयोग है ।

3) सत्य-मृषा मनोयोग :– थोडा सच और थोड़ा झूठ सोचना, वह सत्यमृषा (मिश्र) मनोयोग है ।

4) असत्य-अमृषा मनोयोग :– जो विचार व्यावहारिक दृष्टि से सच्चा या झूठा न हो, वह सोचना असत्य-अमृषा मनोयोग है । व्यवहार में किसी को ``आओ !'' ``पधारो !'' ``बैठों !'' आदि सोचना, वह असत्य-अमृषा मनोयोग है ।

आश्रव तत्त्व

स आश्रवः ।।6–2।।

सामान्य अर्थ :– वह योग–आश्रव है ।

विवेचन :– आश्रव अर्थात् आत्मा में कर्मों का आगमन होना । इस विस्तृत चौदह राजलोक रूप संसार में सभी जगह कार्मण वर्गणाएँ रही हुई हैं । ये कार्मण वर्गणाएँ पुद्गल स्वरूप हैं । जब आत्मा राग–द्वेष के अधीन होती है, तब वे कार्मण वर्गणाएँ आत्मा के साथ क्षीर–नीर की तरह घुल–मिल जाती हैं । आत्मा कर्म के अधीन बन जाती है ।

इस संसार में जीवात्मा नाव के समान है और कार्मण वर्गणाएँ जल के समान हैं । जब नाव में छिद्र पड़ जाते हैं, तब चारों ओर से पानी आने लगता है । इसी प्रकार जब जीवात्मा राग-द्वेष के परिणाम द्वारा आश्रव के द्वार खोल देती है, तब उसमें चारो ओर से कर्म परमाणुओं का आगमन प्रारंभ हो जाता है ।

वास्तव में कर्मों की आने की क्रिया को आश्रव कहा जाता है, परंतु कार्य में कारण का उपचार करके कर्मों के आने के कारण को आश्रव कहा गया है । आत्मा में कर्मो के आने का कारण मन–वचन और काया रूप योग है । योग के द्वारा आत्मा में कर्मों का आश्रव होता है, जो क्रमशः बन्ध और उदय में परिवर्तित होकर नये कर्मबंध और संसार-परिभ्रमण का कारण बनता है ।

यहाँ सूत्र में योग को ही आश्रव कहा है, परंतु वह अप्रधान अर्थात् गौण रूप से कहा है । इसलिए कर्मबंध की अपेक्षा से योगजन्य प्रवृत्ति मात्र द्रव्य आश्रव है । कर्मबंध में मुख्य कारण आत्मा के शुभ–अशुभ अध्यवसाय हैं, जो भाव आश्रव हैं । क्योंकि मन–वचन और काया के योगों का व्यापार होने पर भी 13 वें गुणस्थानक पर रहे केवली भगवंतों को अध्यवसाय के अभाव में मात्र साता वेदनीय कर्म का ही आश्रव होता है ।

पुण्य और पाप कर्म का आश्रव

शुभः पुण्यस्य ।।6–3।।

अशुभः पापस्य ।।6–4।।

सामान्य अर्थ :– शुभ योग पुण्य का आश्रव है । अशुभ योग पाप का आश्रव है ।

विवेचन :– मन, वचन और काया के योग दो प्रकार के हैं–शुभ और अशुभ । शुभ योगों का कारण शुभ अध्यवसाय है और अशुभ योगों का कारण अशुभ अध्यवसाय है । शुभ योगों से पुण्य का आश्रव होता है और अशुभ योगों से पाप का आश्रव होता है ।

यहाँ तत्त्वार्थ सूत्र में 9 तत्त्वों के स्थान पर 7 तत्त्व बताए हैं । पुण्य और पाप तत्त्व का समावेश आश्रव तत्त्व में किया है । शुभ आश्रव को पुण्य कहा है, अशुभ आश्रव को पाप कहा है । शातावेदनीय आदि पुण्य हैं और अशाता वेदनीय आदि पाप हैं ।

शुभ–अशुभ योग–

कौन से कर्म शुभ हैं, इसका वर्णन आठवें अध्याय के 26 वें सूत्र में किया जाएगा । योग की अपेक्षा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, देव-गुरु भक्ति, दानादि धर्म में मन, वचन और काया को जोड़ना शुभ योग है, इससे पुण्य कर्म का आश्रव होता है । इनसे विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, निंदा, चाड़ी-चुगली, राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि में मन, वचन और काया को जोड़ना अशुभ योग है । इससे पाप कर्म का आश्रव होता है ।

मन–वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति करते समय जितने अंश में शुभ अध्यवसाय होता है, उतने अंश में निर्जरा भी होती है । परंतु द्रव्य आश्रव की अपेक्षा शुभयोग से पुण्य आश्रव और अशुभ योग से पापास्त्रव का इन सूत्रों में निर्देश किया है ।

वैसे तो प्रति समय आत्मा में ज्ञानावरणीय आदि 7 कर्मों का

आश्रव होता है और आयुष्य कर्म बंध के समय 8 कर्मों का आश्रव होता है, फिर भी शुभ योग के समय ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मों का जो आश्रव होता है, उसका रस अत्यंत अल्प होता है । अतः अति अल्प रस के कारण उसकी विवक्षा न करते हुए शुभ योग से पुण्य का ही आश्रव कहा है ।

आश्रव के भेद

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।।6-5।।

सामान्य अर्थ :– कषाय सहित और कषाय रहित आत्मा का योग क्रमशः साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म के आश्रव का कारण होता है ।

विवेचन :– जिन कर्मों से आत्मा का संसार में परिभ्रमण होता है, उन कर्मों को सांपरायिक कर्म कहा जाता है । सांपरायिक कर्म के आश्रव का मुख्य कारण कषाय है । कषाय शब्द में कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् वृद्धि । जिन परिणामों से आत्मा के संसार की वृद्धि होती है, उसे कषाय कहते हैं । कषायों के सहयोग से आत्मा सांपरायिक कर्मों का बंध करती है, जो दीर्घ काल तक आत्मा को संसार में भटकाते हैं ।

कर्म का बंध चार प्रकार से होता है – प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध । इन चारों में से स्थितिबंध और रसबंध मुख्य हैं । कषाय के कारण ही कर्म की शुभ–अशुभ स्थिति एवं तीव्र–तीव्रतर आदि रस का बंध होता है ।

जब आत्मा कषाय से मुक्त हो जाय, अर्थात् कषायों का क्षय हो जाय, तब आत्मा जिन कर्मों का आश्रव और बंध करती है, वे मात्र ईर्यापथ कर्म होते हैं । ईर्यापथ अर्थात् मन–वचन और काया की कषाय रहित प्रवृत्ति । ऐसी प्रवृत्ति मात्र योग से ही होती है । इसलिए इसे ईर्यापथ कर्म आश्रव कहते हैं । ईर्यापथ कर्म में प्रथम समय कर्मबंध होता है, दूसरे समय में उसका उदय और तीसरे समय में उसका क्षय हो जाता है ।

जैसे दिवाल पर यदि कीचड़ या पानी के मिश्रणवाली मिट्टी को फेंका जाय तब उसमें चिकनाहट के कारण वह दिवाल पर चिपक जाती है । परंतु यदि सूखी रेत फेंकी जाय तो उसमें चिकनाहट के अभाव के कारण वह नीचे गिर जाती है ।

वैसे ही यहाँ चिकनाहट यानी कषाय । कषाय के होने पर कर्म आत्मा पर चिपकते हैं और कषाय के अभाव में नहीं चिपकते हैं ।

पहले से दसवें गुणस्थानक तक कषाय का उदय होने से आत्मा में सांपरायिक कर्म का आश्रव होता है एवं ग्यारहवें से तेरहवें गुण-स्थानक में कषाय के अभाव में ईर्यापथ कर्म का आश्रव होता है । 14 वे गुणस्थानक में योग का सर्वथा अभाव होने से कर्म के आश्रव का सर्वथा अभाव होता है ।

सांपरायिक आश्रव

अव्रत-कषायेन्द्रिय–क्रियाः पञ्च–चतुः–
पञ्च–पञ्चविंशति–संख्याः पूर्वस्य भेदाः ।।6–6।।

सामान्य अर्थ :– सांपरायिक आश्रव के 5 अव्रत, 4 कषाय, 5 इन्द्रिय, 25 क्रिया–इस प्रकार कुल 39 भेद हैं ।

विवेचन :– नवतत्त्व की अपेक्षा आश्रव तत्त्व के 42 भेद बताए हैं । उनमें से पूर्व के सूत्र में मन–वचन और काया के योगों को ही आश्रव स्वरूप बताने के कारण इस सांपरायिक आश्रव में 3 योगों को छोड़कर–5 अव्रत, 4 कषाय, 5 इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति और 25 क्रिया इस प्रकार 39 भेद बताए हैं ।

पाँच अव्रत :– पाँच अव्रतों का वर्णन विस्तार से सातवें अध्याय में 8 से 12 वें सूत्र में होगा यहाँ मात्र संक्षेप में वर्णन करते हैं–

1) हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से हिंसा में प्रवृत्त होना **'प्राणातिपात'** नामक अव्रत है ।

2) झूठ के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से झूठ बोलने में प्रवृत्त होना **'मृषावाद'** नामक अव्रत है ।

3) चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से चोरी में प्रवृत्त होना **'अदत्तादान'** नामक अव्रत है ।

4) मैथुन के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से मैथुन की प्रवृत्ति में संलग्न होना **'अब्रह्म'** नामक अव्रत है ।

5) परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा न होना तथा मन, वचन और काया से परिग्रह में प्रवृत्त होना **'परिग्रह'** नामक अव्रत है ।

इन अव्रतों के सेवन से भी आत्मा में आश्रव के द्वार खुले रहते हैं, जिससे आत्मा कर्म का बंध करती है ।

चार कषाय :– कषाय का स्वरूप आठवें अध्याय के 10वें सूत्र में विस्तार से होगा । यहाँ संक्षेप से वर्णन करते हैं ।

1) क्रोध :– क्रोध अर्थात् गुस्सा करना, आवेश में आ जाना । किसी गलत बात को सहन न कर बुरा–भला कहना ।

2) मान :– प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तु का अभिमान करना, गर्व करना, झूठी बड़ाई हाँकना, किसी को नीचा दिखाना इत्यादि ।

3) माया :– धन आदि के लोभ में आकर किसी के साथ माया–कपट–प्रपंच आदि करना, मूल बात को छिपाकर अन्य बात कहना इत्यादि ।

4) लोभ :– प्राप्त सामग्री में असन्तोष । अधिकाधिक पाने की लालसा और उसके लिए तीव्र प्रयास । इन चारों कषायों के आसेवन से आत्मा नवीन कर्मो का उपार्जन करती है ।

पाँच इन्द्रियों की असत् प्रवृत्ति :–पाँच इन्द्रियों का वर्णन दूसरे अध्याय के 20वें सूत्र में एवं उनके विषय 21वें सूत्र में बताए थे । पाँचों इन्द्रियों को प्राप्त कर मोहाधीन आत्मा पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों को पाने के लिए दौड़–धूप करती है, अनुकूल विषय मिलने पर राग करती है और प्रतिकूल विषय मिलने पर द्वेष करती है । वह कानों से

रेडियो के गीत आदि का श्रवण करती है । आँखों से रूपवती स्त्रियों के रूप को देखती है । इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों को वह भौतिक शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में जोड़ती है और इसके फलस्वरूप उस आत्मा में आश्रव का द्वार खुला रहता है, जिससे अनन्त कार्मण–वर्गणाएँ आकर उस आत्मा पर चिपक जाती है ।

पाँचों इन्द्रियों के कुल 23 विषय हैं । उन विषयों की प्राप्ति–अप्राप्ति में राग–द्वेष करने से आत्मा में कर्म का आश्रव होता है ।

25 क्रियाओं का स्वरूप यहाँ बताते हैं–

1) कायिकी क्रिया :– अयतनापूर्वक शरीर की क्रिया करने से जो क्रिया होती है, उसे कायिकी क्रिया कहते हैं । इसके दो भेद हैं–

क) अनुपरत कायिकी क्रिया :– जिन्होंने हिंसा आदि पापों का त्याग नहीं किया हो ऐसे व्यक्तियों की क्रिया को अनुपरत कायिकी क्रिया कहते हैं ।

ख) अनुपयुक्त कायिकी क्रिया :– विरतिधर प्रमत्त साधु की अनुपयोगपूर्वक काया की प्रवृत्ति से जो क्रिया होती है, उसे अनुपयुक्त कायिकी क्रिया कहते हैं ।

2) अधिकरणिकी क्रिया :– हिंसा के साधनभूत तलवार, बंदूक आदि को तैयार करना, करवाना अथवा उपयोग करना इत्यादि क्रिया ।

3) प्राद्वेषिकी :– क्रोधादि से उत्पन्न द्वेष–पूर्वक की गई क्रिया अथवा जिस क्रिया में क्रोध की बहुलता हो, वह प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है ।

4) पारितापनिकी क्रिया :– ताड़ना–तर्जना आदि द्वारा किसी को हैरान–परेशान करने की क्रिया को पारितापनिकी क्रिया कहते हैं ।

5) प्राणातिपातिकी क्रिया :– किसी भी जीव के प्राणों का नाश करने वाली क्रिया को प्राणातिपातिकी क्रिया कहते हैं ।

6) आरम्भिकी क्रिया :– छह काय के जीवों के वधस्वरूप आरंभ–समारम्भ की क्रिया को आरम्भिकी क्रिया कहते हैं ।

7) पारिग्रहिकी क्रिया :– धन, धान्य आदि का परिग्रह करना, उन पर मूर्च्छा करना, इत्यादि पारिग्रहिकी क्रिया है ।

8) माया–प्रत्ययिकी क्रिया :– छल–कपट आदि द्वारा किसी को ठगने की प्रवृत्ति को माया–प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं ।

9) मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया :– मिथ्यादर्शन द्वारा प्ररूपित प्रवृत्ति करना । सर्वज्ञकथित हेय पदार्थ को उपादेय व उपादेय को हेय मानना इत्यादि क्रिया को मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया कहते हैं ।

10) अप्रत्याख्यानिकी क्रिया :– अविरति के तीव्र उदय से किसी प्रकार के पाप–त्याग की प्रतिज्ञा न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया है ।

11) दृष्टिकी क्रिया :– जीव–अजीव पदार्थ के किसी पर्याय–विशेष को राग दृष्टि से देखना, दृष्टिकी क्रिया कहलाती है ।

12) स्पृष्टिकी क्रिया :– रागपूर्वक स्त्री, पुत्र आदि के शरीर का अथवा अजीव पदार्थों का स्पर्श करना, स्पृष्टिकी क्रिया कहलाती है ।

13) प्रातित्यकी क्रिया :– जीव–अजीव के निमित्त से जो राग–द्वेष के परिणाम पैदा होते हैं, उसे प्रातित्यकी क्रिया कहते हैं ।

14) सामंतोपनिपातिकी क्रिया :– चारों ओर से आने वाले लोगों को राग–द्वेष उत्पन्न करनेवाली वस्तु बताकर स्वयं को राग–द्वेष करना । जैसे बाजार में बेचने के लिए सजीव–गाय आदि अथवा निर्जीव–मोटर आदि लाकर रखना, जिसे देख कोई प्रशंसादि से रागादि करे और कोई क्षति निकाल कर द्वेष करे और उन लोगों के राग–द्वेष से स्वयं को राग–द्वेष हो, उसे सामंतोपनिपातिकी क्रिया कहते हैं ।

15) नैसृष्टिकी क्रिया :– निसर्जन करना–फेंकना । कुएं में से जल निकालना, धनुष में से बाण निकालना इत्यादि नैसृष्टिकी क्रिया कहलाती है ।

16) स्वहस्तिकी क्रिया :– अपने हाथों से जीवों का घात करना, स्वहस्तिकी क्रिया है ।

17) आज्ञापनिकी क्रिया :– जीवों को (प्रभु आज्ञा विरुद्ध) हुक्म करने को आज्ञापनिकी क्रिया कहते हैं ।

18) विदारणिकी क्रिया :– जीवों का विदारण करना, फाड़ना विदारणिकी क्रिया कहलाती है ।

19) अनाभोगिकी क्रिया :– चित्त के उपयोग रहित वस्तु को लेने–रखने से अनाभोगिकी क्रिया होती है ।

20) अनवकांक्षी प्रत्ययिकी क्रिया :– स्व–पर हित की आकांक्षा से रहित क्रिया करना, अनवकांक्षी प्रत्ययिकी क्रिया है । जैसे-पर-स्त्री-गमन इत्यादि परलोकविरुद्ध आचरण करना ।

21) प्रायोगिकी क्रिया :– मन, वचन और काया के योगों से अशुभ व्यापार करना, उसे प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं ।

22) सामुदानिकी क्रिया :– जिस क्रिया से समुदाय रूप में आठों कर्मों का बंध हो, अथवा समुदाय में जिस कर्म का बंध हो, उसे सामुदानिकी क्रिया कहते हैं ।

23) प्रैमिकी क्रिया :– जीव–अजीव पदार्थों में प्रेम करने से तथा अन्य जीवों को प्रेम पैदा हो, ऐसे वचन बोलने को प्रैमिकी क्रिया कहते हैं ।

24) द्वैषिकी क्रिया :– द्वेष को पैदा करने वाली क्रिया को द्वैषिकी क्रिया कहते हैं ।

25) ईर्यापथिकी क्रिया :– गमनागमन करने से होने वाली क्रिया ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है ।

भावों के आधार पर होनेवाले कर्म आश्रव में भेद

तीव्र–मन्द–ज्ञाता–ऽज्ञातभाव–वीर्याधिकरण विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।।6–7।।

सामान्य अर्थ :– तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण, इन छह के भेद से कर्म के आश्रव में भेद होता है ।

विवेचन :– कर्म के आश्रव में जीवात्मा के भाव अर्थात् अंतरंग

परिणाम–अध्यवसाय अति महत्त्वपूर्ण हैं । एक समान क्रिया करने पर भी एक व्यक्ति को अधिक कर्मबंध और दूसरे को अल्प कर्मबंध हो सकता है । इसके पीछे मुख्य छह कारण बताए गए हैं–

1) तीव्रभाव 2) मंदभाव 3) ज्ञातभाव 4) अज्ञातभाव 5) वीर्य 6) अधिकरण ।

1) तीव्रभाव–2) मंदभाव :– पुण्य अथवा पाप की प्रवत्ति एक समान होने पर भी उस क्रिया में शुभ–अशुभ भावों की तीव्रता और मंदता, पुण्यबंध और पापबंध में भिन्नता पैदा करती है । तीव्र भाव अर्थात् क्रिया को करते समय अधिक परिणाम और मन्द भाव अर्थात् क्रिया को करते समय अल्प परिणाम । तीव्रभाव अधिक कर्मबंध का कारण हैं और मन्दभाव अल्प कर्मबंध का कारण हैं ।

जैसे i) संसार में रहने वाली सम्यग्दृष्टि आत्मा, संसार में रहते हुए संसारपोषक प्रवृत्ति करने पर भी उसमें उसे तीव्र परिणाम के अभाव में अल्प कर्मबंध होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि आत्मा को तीव्र परिणाम के कारण अधिक कर्मबंध होता है ।

ii) कोई व्यापारी मात्र पेट भरने हेतु व्यापार करता है और कोई लोभ कषाय से अभिभूत बनकर अपार संपत्ति होने पर भी व्यापार करता है । दोनों की क्रिया एक समान होने पर भी पहले व्यक्ति को मन्द भाव के कारण अल्प कर्मबंध होता है और दूसरे को तीव्र भाव के कारण अधिक कर्मबंध होता है ।

iii) इसी तरह देव–गुरु और धर्म की भक्ति में भी तीव्र भाव होने के कारण पुण्यबंध अधिक होता है और मन्द भाव होने के कारण पुण्यबंध अल्प होता है ।

3) ज्ञातभाव–4) अज्ञातभाव :– कर्म के बंध में ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण कारण है । प्रवृत्ति एक समान होने पर भी पुण्य या पाप की प्रवृत्ति करते समय वह क्रिया ज्ञातभाव से कर रहे हैं या अज्ञानता से कर रहे हैं, उसके अनुसार पुण्य और पाप का बंध होता है । ज्ञातभाव अर्थात् जानबूझकर,

इरादे से उद्देश्य पूर्वक आश्रव की क्रिया करना और अज्ञात भाव अर्थात् अज्ञानता से, बिना इरादे, गलती से कोई आश्रव की क्रिया करना ।

जैसे–शिकारी शिकार करने के लिए शस्त्र फेंकता है । जबकि कोई व्यक्ति कुतूहल से शस्त्र फेंकता है जिससे बीच में आने से किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो जाती है । दोनों के शस्त्र फेंकने की क्रिया एक समान होने पर भी शिकारी शिकार करने के भाव से जानबूझकर शस्त्र फेंकता है, जबकि दूसरा व्यक्ति कुतूहल वृत्ति से शस्त्र फेंकता है, अतः शिकारी को अधिक कर्म का आश्रव होता है, जबकि दूसरे को अज्ञानता से अल्प कर्म का आश्रव होता है ।

5) वीर्य :– जीवात्मा को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे वीर्य कहते हैं । जितनी वीर्य शक्ति अधिक होगी, उतना परिणाम आदि तीव्र होगा, जिससे कर्म का आश्रव अधिक होगा और जितनी वीर्य शक्ति कम होगी, उतना परिणाम आदि अल्प होगा है और कर्म का आश्रव भी अल्प होगा ।

इसी कारण पहले संघयणवाली आत्मा शुभ भाव एवं साधना के द्वारा कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकती है तो अशुभ भावों के कारण सातवीं नरक में भी जा सकती है ।

दूसरे संघयणवाली आत्मा ऊपर बारहवें देवलोक और नीचे छठी नरक तक जा सकती है ।

तीसरे संघयणवाली आत्मा ऊपर दसवें देवलोक और नीचे पाँचवीं नरक तक जा सकती है ।

चौथे संघयणवाली आत्मा ऊपर आठवें देवलोक और नीचे चौथी नरक तक जा सकती है ।

पाँचवे संघयण वाली आत्मा ऊपर छठे देवलोक और नीचे तीसरी नरक तक जा सकती है ।

छठे संघयण वाली आत्मा ऊपर चौथे देवलोक और नीचे दूसरी नरक तक जा सकती है । संघयण का वर्णन आठवें अध्याय के बारहवें

सूत्र में होगा ।

महाविदेह क्षेत्र एवं भरत–ऐरावत क्षेत्र के चौथे आरे में उत्पन्न हुए मनष्य मोक्ष में जा सकते हैं और सातवीं नरक में भी जा सकते हैं तथा वर्तमान में भरत–ऐरावत के पाँचवे आरे में उत्पन्न हुए मनुष्य चौथे देवलोक और दूसरी नरक तक जा सकते हैं ।

6) अधिकरण :– अधिकरण अर्थात् क्रिया करने का साधन । पाप के बंधन में शारीरिक शक्ति के साथ अधिकरण की शक्ति भी आधार रखती है । अधिकरण के बल पर कर्म का बंध अधिक या अल्प होता है । जैसे तीक्ष्ण धार वाली तलवार और खिलौने में खेलने योग्य तलवार ।

सामान्य से अधिकरण जितना अधिक मजबूत होगा, उसके अनुसार भावों में तीव्रता और मंदता आएगी, जो कर्म के आश्रव में कारण बनता है । जैसे दृढ़प्रहारी का शस्त्र इतना तीक्ष्ण था कि उसके प्रहार की शक्ति और भावों में तीव्रता बढ़ती थी । परंतु इसमें एकांत नहीं है, क्योकि तंदुलिय मत्स्य के पास शस्त्र न होने पर भी वह मानसिक पापों के कारण मरकर सातवीं नरक में चला जाता है ।

कर्म के बंध में उपरोक्त छह कारणों में तीव्र और मंदभाव मुख्य कारण हैं, शेष ज्ञातभाव आदि गौण कारण हैं । अथवा तलवार आदि बाह्य अधिकरण हैं जबकि कषाय आदि अभ्यंतर अधिकरण हैं । तंदुलिय मत्स्य के पास बाह्य अधिकरण का अभाव है परंतु मन में रहा रौद्र ध्यान और कषाय रूप अभ्यंतर अधिकरण उसके तीव्र कर्मबंध का कारण बनता है ।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥6–8॥

सामान्य अर्थ :– अधिकरण के दो भेद हैं–जीव अधिकरण और अजीव अधिकरण ।

विवेचन :– जिससे आत्मा, नरक आदि दुर्गति की अधिकारी बनती है,

अर्थात् जो आत्मा को दीर्घकाल तक नरकादि दुर्गति में आत्मा के बंधे रखता है, उसे अधिकरण कहते हैं । अधिकरण के मुख्य दो भेद हैं–जीव अधिकरण और अजीव अधिकरण । केवल जीव से या केवल अजीव से कर्म का आश्रव नहीं हो सकता । उसमें जीव आश्रव का कर्ता होने से मुख्य अधिकरण है और अजीव उसका सहायक होने से गौण अधिकरण है ।

जीव अधिकरण और अजीव अधिकरण प्रत्येक के दो भेद हैं–द्रव्य अधिकरण और भाव अधिकरण । द्रव्य अधिकरण छेदन–भेदन आदि है, जिसके 10 प्रकार हैं– 1) शस्त्र, 2) अग्नि, 3) विष, 4) स्नेह, 5) अम्ल, 6) क्षार, 7) नमक (लवण), 8) दुष्प्रयुक्त मन, 9) दुष्प्रयुक्त वचन, 10) दुष्प्रयुक्त काया ।

आत्मा के तीव्र आदि परिणाम भाव अधिकरण हैं । भाव अधिकरण के 108 भेद हैं जो आगे के सूत्र में बताए हैं ।

जीव अधिकरण के 108 भेद

आद्यं संरम्भ–समारम्भा–ऽऽरम्भ–योग–कृत–कारिता-ऽनुमत–कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।6–9।।

सामान्य अर्थ :– जीव अधिकरण के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ–इन तीन के मन, वचन और काया के तीन योग, करण, करावण और अनुमोदन के तीन भेद एवं चार कषाय के संयोग (गुणाकार) से (3x3x3x4=) 108 भेद होते हैं ।

विवेचन :– जीव जिन भावों से आश्रव का अधिकारी होता है, वे जीव अधिकरण हैं । जीव अधिकरण के 108 भेद हैं– 3 संरम्भ–समारम्भ और आरम्भ, 3 मन, वचन और काया के योग, 3 करण, करावण और अनुमोदन, 4 क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय । इनके संयोग से 108 भेद होते हैं ।

- संरम्भ अर्थात् हिंसा आदि का संकल्प करना ।

समारम्भ अर्थात् हिंसा आदि के किये हुए संकल्प को पूरा करने के लिए उसके योग्य सामग्री को एकत्रित करना ।

आरम्भ अर्थात् हिंसा आदि की क्रिया करना ।

● मन–वचन–काया का वर्णन इसी अध्याय के पहले सूत्र में आ गया है ।

● करण अर्थात् स्वयं हिंसा की क्रिया करना । करावण अर्थात् अन्य के पास हिंसा आदि करवाना । अनुमोदन अर्थात् अन्य के द्वारा की गई हिंसा आदि क्रिया की अनुमोदना करना ।

● क्रोधादि कषाय का संक्षेप में वर्णन इसी अध्याय के छठे सूत्र में संक्षेप से किया है । एवं विस्तार से वर्णन आठवें अध्याय के दसवें सूत्र में होगा ।

अजीव अधिकरण के भेद

निर्वर्तना–निक्षेप–संयोग–निसर्गा द्वि–चतु–र्द्वि–त्रिभेदाः परम् ।।6–10।।

सामान्य अर्थ :– अजीव अधिकरण के मुख्य चार भेद हैं– निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग । उनके क्रमशः दो, चार, दो और तीन भेद हैं ।

विवेचन :– अजीव अधिकरण के मुख्य चार भेद हैं–

1) निर्वर्तना अधिकरण :– निर्वर्तना अर्थात् रचना करना–बनाना । इसके दो भेद हैं–

i) मूलगुण निर्वर्तना अधिकरण :– हिंसा आदि करने में जो मुख्य साधन है, उसकी रचना करना, वह मूलगुण निर्वर्तना अधिकरण है । जैसे औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास आदि की रचना करना ।

ii) उत्तर गुण निर्वर्तना अधिकरण :– हिंसा आदि करने में जो गौण साधन है, उसकी रचना करना, वह उत्तर गुण निर्वर्तना अधिकरण है । जैसे तलवार, लकड़ी के पुतले, कपड़े के पुतले, चित्र आदि की रचना करना ।

2) निक्षेप अधिकरण :– निक्षेप अर्थात् रखना । इसके चार भेद हैं–

i) अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप अधिकरण :– वस्तु को रखने से पहले जगह को दृष्टि से देखे बिना अथवा जैसे–तैसे देखकर वस्तु रखना उसे अप्रत्यवेक्षित निक्षेप अधिकरण कहते हैं । जैसे-जब किसी वस्तु को नीचे रखनी हो, तब नीचे की भूमि बराबर देखनी चाहिए । बिना देखे वस्तु रखने से वहाँ रहे सूक्ष्म जीवों की हिंसा–विराधना हो सकती है ।

ii) दुष्प्रमार्जित निक्षेप अधिकरण :– वस्तु को रखने से पहले जगह को जैसे–तैसे अथवा बिना प्रमार्जन किए वस्तु को रखना उसे दुष्प्रमार्जित निक्षेप अधिकरण कहते हैं । जैसे–जिस जगह को हमने मात्र देखा है परंतु प्रमार्जन नहीं किया है, वहाँ भी छोटे–छोटे ऐसे जीव होने की शक्यता है, जो हमें चर्मचक्षु से भी न दिखें, अथवा ध्यान से देखने पर ही दिखें । ठीक तरह से प्रमार्जन किये बिना उस जगह पर वस्तु रखने से उन छोटे जीवों की हिंसा–विराधना हो सकती है ।

iii) सहसा निक्षेप अधिकरण :– जल्दबाजी में अथवा शक्ति के अभाव में देखे बिना या प्रमार्जन किये बिना किसी जगह पर वस्तु को रखना, उसे सहसा निक्षेप अधिकरण कहते हैं । जैसे शरीर में शक्ति न हो फिर भी किसी वजनदार वस्तु को उठाए तो वह नीचे गिर जाती है, तब उस स्थान पर दृष्टि से देखना या प्रमार्जन न होने से जीवों की हिंसा–विराधना हो सकती है ।

iv) अनाभोग निक्षेप अधिकरण :– भूल जाने से उपयोग के अभाव में, देखे बिना या प्रमार्जन किये बिना किसी जगह पर वस्तु को रखना उसे अनाभोग निक्षेप अधिकरण कहते हैं । जैसे प्रमार्जन किसी ओर जगह पर किया हो और वस्तु को किसी ओर जगह पर रखने से जीवों की हिंसा–विराधना हो सकती है ।

निक्षेप अधिकरण में अप्रत्यवेक्षित और दुष्प्रमार्जित निक्षेप अधिकरण प्रमाद से होता है, जबकि सहसा और अनाभोग निक्षेप अधिकरण

जल्दबाजी और विस्मृति से होता है ।

3) संयोग अधिकरण :– संयोग अर्थात् दो या दो से अधिक वस्तु को जोड़ना, एकत्रित करना, मिलाना । इसके दो भेद हैं–

i) भक्तपान संयोग अधिकरण :– भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ संयोग करना, उसे भक्तपान संयोग अधिकरण कहते हैं । इसके दो भेद हैं– अ) पात्र में, आ) मुख में । जैसे रोटी को सब्जी, गुड़, मुरब्बा आदि से मिलाकर खाना । दूध अथवा शरबत में शक्कर आदि मिलाकर पीना आदि ।

ii) वस्त्र संयोग अधिकरण :– वेशभूषा आदि से अपनी शोभा करने के लिए दो नए वस्त्र आदि का संयोग करना, उसे वस्त्र संयोग अधिकरण कहते हैं । जैसे एक वस्त्र पुराना हो और दूसरा नया हो तो पुराने को बदलकर नया पहनना आदि ।

भोजन और वस्त्र आदि उपकरण जीवन जीने के साधन हैं, उन्हें स्वाद और शोभा के साधन बनाने में भी कई जीवों की हिंसा–विराधना होने की संभावना रही हुई है ।

4) निसर्ग अधिकरण :– निसर्ग अर्थात् त्याग करना । इसके तीन भेद हैं–

i) काय निसर्ग अधिकरण :– अविधि के द्वारा काया का त्याग करना, उसे काय निसर्ग अधिकरण कहते हैं । जैसे शस्त्र, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पाशबंधन आदि के द्वारा शरीर का त्याग करने से अन्य की काया को भी पीड़ा होती है ।

ii) वचन निसर्ग अधिकरण :– शास्त्रविरुद्ध बोलने से जो भाषा वर्गणा के पुद्गलों का त्याग होता है, उसे वचन निसर्ग अधिकरण कहते हैं ।

iii) मन निसर्ग अधिकरण :– शास्त्र विरुद्ध विचार करने से जो मनोवर्गणा के पुद्गलों का त्याग होता है, उसे मन निसर्ग अधिकरण कहते है ।

निर्वर्तना आदि चार प्रकार के इन अधिकरणों को अजीव अधिकरण कहा है, वह मात्र बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से है। वैसे तो शरीर आदि की रचना, जीव ही करता है, फिर भी शरीर आदि तो अजीव हैं। जीव की अपेक्षा बिना मात्र बाह्य व्यापार से निर्वर्तना आदि अधिकरण शरीर आदि का मात्र संस्थान ही है, इसलिए इन्हें अजीव अधिकरण कहा है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के आश्रव

तत्प्रदोष–निह्नव–मात्सर्या–ऽन्तराया–ऽऽसादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ।।6-11।।

सामान्य अर्थ :– ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात–ये छह ज्ञानावरणीय कर्म के आश्रव हैं। दर्शन, दर्शनी और दर्शन के साधनों के प्रति द्वेष आदि छह दर्शनावरणीय कर्म के आश्रव हैं।

विवेचन :– जिन हेतुओं से ज्ञानावरणीय कर्म का आश्रव होता है, उन्हीं हेतुओं से दर्शनावरणीय कर्म का भी आश्रव होता है। यहाँ सूत्र में द्वेष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात–ये छह हेतु बताए हैं।

1) प्रदोष :– प्रदोष अर्थात् द्वेष करना। जीवन में ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? नया-नया ज्ञान प्राप्त करने से या क्रियाशून्य मात्र ज्ञान पढ़ने से क्या लाभ है ? सभी ग्रंथों में एक ही बात कही है, तो नया-नया ज्ञान क्यों प्राप्त करना ? इस प्रकार ज्ञान के प्रति एवं ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष करना।

2) निह्नव :– निह्नव अर्थात् अभिमान के कारण ज्ञानदाता गुरु के नाम को छुपाना। जैसे ज्ञान का अध्ययन किसी के पास किया हो फिर भी कहना कि–मैंने तो उनके पास अध्ययन नहीं किया है।

3) मात्सर्य :– मात्सर्य अर्थात् ईर्ष्या करना। स्वयं के पास ज्ञान हो और कोई योग्य व्यक्ति पढने आए तब विचार करना कि **``यदि मैं**

इसे पढ़ाऊंगा तो यह मेरे समान विद्वान बनकर मुझसे आगे निकल जाएगा'' आदि । अथवा ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या करना आदि ।

4) अन्तराय :– ज्ञान का अभ्यास करनेवाले को पढ़ने में अंतराय करना । जैसे–कोई व्यक्ति पढ़ रहा हो तब जोर से चिल्लाना अथवा उसे दूसरे कार्य में जोड़ देना आदि ।

5) आसादन :– ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधन के प्रति अनादर करना–उनके प्रति विनय–बहुमान नहीं करना, उनकी उपेक्षा करना । ज्ञानी की निंदा करना, अपमानित करना, प्राणांत कष्ट देना इत्यादि ।

6) उपघात :– ज्ञान और ज्ञान के साधनों को नष्ट करना । ज्ञानी को मार डालना । अज्ञानता के कारण–ज्ञानी के वचन को असत्य सिद्ध करना । ज्ञान के वचनों को असत्य कहना इत्यादि ।

ज्ञान की अन्य आशातनाएँ–

1) पुस्तक पर बैठना ।
2) पुस्तक को फेंकना ।
3) अंगुली पर थूक लगाकर पन्ने पलटना ।
4) अखबार से मल मूत्र साफ करना ।
5) कागज को जलाना, इत्यादि ।

असाता वेदनीय कर्म के आश्रव

दुःख–शोक–ताप–ऽऽक्रन्दन–वध–परिदेवनान्याऽऽत्म–परोभय–स्थान्यसद्वेद्यस्य ।।6-12।।

सामान्य अर्थ :– स्वयं को, पर को अथवा स्व–पर दोनों को दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन करने और कराने से असातावेदनीय कर्म का आश्रव होता है ।

विवेचन :– दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन–इन छह प्रकार से स्वयं को पीड़ित करे, दूसरों को पीड़ित करवाए अथवा

स्वंय पीड़ित हो और दूसरों को पीड़ित करने से असाता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है ।

1) दुःख :– इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग रूप बाह्य निमित्त तथा राग–द्वेष आदि अभ्यंतर निमित्त से होनेवाली शारीरिक पीड़ा को दुःख कहते हैं ।

2) शोक :– अनुग्रह करने वाले भाई आदि के वियोग से अथवा स्नेह के विच्छेद से होने वाली मानसिक दीनता को शोक कहते हैं ।

3) ताप :– शोक करने के बाद शरीर में होने वाली पीड़ा अथवा हृदय में होने वाली जलन को ताप कहते हैं ।

4) आक्रन्दन :– पीडित व्यक्ति का जोर से चिल्लाना, दिवाल से सिर टकराना, छाती कूटना, हाथ–पैर पटकना, आँसू बहाते हुए रोना आदि को आक्रन्दन कहते हैं ।

5) वध :– प्राणों का नाश करना, चाबुक, लकड़ी आदि से मारना–पीटना आदि को वध कहते हैं ।

6) परिदेवन:– दूसरों को दया आए इस तरह दीन बनकर चारों ओर अपने दुःख को प्रकट करना आदि को परिदेवन कहते हैं ।

साता वेदनीय कर्म के आश्रव

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दानं-सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।।6-13।।

सामान्य अर्थ :– जीव–अनुकंपा, व्रती–अनुकंपा, दान, सराग संयम आदि योग, क्षमा और शौच–ये साता वेदनीय कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– जिस कर्म के उदय से आत्मा को संसार में अनुकूलता, पाँच इन्द्रियों का भौतिक सुख आदि प्राप्त होते हैं, उसे साता वेदनीय कर्म कहते हैं । सूत्र में साता वेदनीय कर्म के आश्रव के रूप में 1) भूत अनुकंपा 2) व्रती अनुकंपा 3) दान 4) सराग संयम आदि योग–यहाँ आदि शब्द से 5) संयमासंयम 6) अकाम निर्जरा 7) बाल तप तथा 8) क्षमा और 9) शौच हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1) भूत अनुकंपा :– भूत अर्थात् जीव । किसी भी प्रकार के भेदभाव बिना सभी जीवों के प्रति अनुकंपा–दया का भाव ।

2) **व्रती अनुकंपा :–** व्रती अर्थात् व्रतधारी । व्रती के दो भेद हैं–अगारव्रती और अणगारव्रती ।

गृहस्थ जीवन में रहते हुए स्थूल प्राणातिपात आदि पापों का त्याग करनेवाला देशविरतिधर श्रावक अगारव्रती है तथा सभी प्रकार के पापों के त्यागी पाँच महाव्रतधारी सर्वविरतिधर साधु अणगार व्रती हैं । उनके प्रति अनुकंपा अर्थात् भक्ति का भाव धारण करना ।

3) दान :– इन व्रतियों को भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्या, औषध आदि का दान देना ।

4) सरागसंयम :– मूलगुण और उत्तरगुण संयम के साथ संज्वलन लोभ आदि कषाय का उदय होना सरागसंयम है ।

5) संयमासंयम :– जिसमें आंशिक संयम और आंशिक असंयम हो ऐसी स्थूल प्राणातिपात आदि विरति रूप देशविरति संयमासंयम है ।

6) अकामनिर्जरा :– काम अर्थात् इच्छा । इच्छापूर्वक कष्टों को सहन करने से जो कर्म का नाश होता है, वह सकामनिर्जरा है और इच्छा के बिना, परतंत्रता, अनुरोध, साधन के अभाव, रोग आदि के कारण कष्ट आदि को सहने से जो कर्म का नाश होता है, वह अकाम-निर्जरा है ।

7) बालतप :– विवेक ज्ञान बिना मात्र अज्ञानता से पंचाग्नि आदि तप अनुष्ठान करना अथवा जैन शासन में भी शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति करना, बालतप है ।

8) क्षमा :– क्षमा अर्थात् क्रोध कषाय के उदय को रोकना अथवा उदय में आये हुए क्रोध कषाय को निष्फल बनाना । इसके पाँच भेद हैं– उपकार क्षमा, अपकार क्षमा, विपाक क्षमा, वचन क्षमा और धर्म क्षमा ।

9) शौच :– लोभ कषाय का त्याग करके संतोष भाव धारण

करना मुख्य शौच है । (व्यवहार में शौच का अर्थ शरीर की शुद्धि माना जाता है, परंतु वह तो मात्र गौण शौच है ।)

इसके सिवाय देव–गुरु–धर्म पर राग होना, दस प्रकार की वैयावच्च करना, माता–पिता आदि वड़िलजनों की सेवा–शुश्रूषा करना, तप–त्याग का आचरण करना, धर्म में स्थिर रहना–आदि अन्य भी साता–वेदनीय कर्म के आश्रव हैं ।

दर्शन मोहनीय कर्म के आश्रव

केवलि–श्रुत–सङ्घ–धर्म–देवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ।।6–14।।

सामान्य अर्थ :– केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म, देवों की निंदा करना–दर्शनमोहनीय कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– आत्मा के अनादि–अनंत काल से चल रहे संसारपरिभ्रमण का मुख्य कारण दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व के कारण आत्मा की सभी धर्म आराधना भी मात्र संसारपरिभ्रमण का कारण बनती है । 1) केवली अवर्णवाद, 2) श्रुत अवर्णवाद, 3) संघ अवर्णवाद, 4) धर्म अवर्णवाद, 5) देव अवर्णवाद से आत्मा में दर्शनमोहनीय का आश्रव होता है । अवर्णवाद अर्थात् निंदा करना । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1) केवली अवर्णवाद :– राग–द्वेष रूपी अंतरंग शत्रु पर विजय पाकर जिन्होंने अनंत ज्ञान स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया है, उन्हें केवली कहते हैं । ऐसे तीर्थंकर अथवा सामान्य केवलियों के ज्ञान में अथवा स्वरूप में शंका अथवा तर्क–वितर्क करते हुए उनकी निंदा करना, केवली अवर्णवाद है । जैसे–भूतकाल में तीर्थंकर या केवली हुए हैं–इसका क्या प्रमाण है ? निगोद में अनंत जीव कैसे हो सकते हैं ? पानी की एक बूंद में असंख्य जीव कैसे हो सकते हैं ? इत्यादि

2) श्रुत अवर्णवाद :– श्रुत अर्थात् आचारांग आदि आगम–शास्त्र ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तीर्थंकर परमात्मा भव्य जीवों के बोध हेतु अर्थ से धर्मदेशना देते हैं । उस धर्मदेशना को गणधर भगवंत सूत्र के रूप में गूँथते हैं । ऐसे आचारांग आदि द्वादशांग, उपांग, छेदग्रंथ, मूलसूत्र आदि श्रुतज्ञान है । तीर्थंकर प्रणीत श्रुतज्ञान के विषय में निंदा करना, अविश्वास करना श्रुत अवर्णवाद है । जैसे– आगम शास्त्रों की रचना-जनसाधारण-प्राकृत भाषा में की है । आगमों में मात्र तप–त्याग–प्रमाद–त्याग आदि का निरर्थक उपदेश दिया है । इत्यादि ।

3) संघ अवर्णवाद :– संघ अर्थात् तीर्थंकर भगवंत द्वारा स्थापित चतुर्विध श्रीसंघ–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका । उनकी निंदा करना संघ अवर्णवाद है । जैसे साधु–साध्वी-शरीर की शुद्धि नहीं करते हैं । वे समाज पर बोझ बनकर रहते हैं । मुफ्त में गृहस्थों की रोटियाँ खाते हैं इत्यादि । श्रावक–श्राविका-स्कूल, कॉलेज, अस्पताल आदि का निर्माण नहीं करते है । ब्राह्मणों को दान नहीं देते है इत्यादि ।

4) धर्म अवर्णवाद :– पाँच महाव्रत रूप साधु धर्म, समकितमूल बारह व्रत रूप श्रावक धर्म, दान आदि चार प्रकार के धर्म आदि की निंदा करना, अविश्वास करना, धर्म अवर्णवाद है । जैसे–धर्म का कोई प्रत्यक्ष फल नहीं है क्योंकि संसार में धर्मी के जीवन में ही दुःख दिखता है, अधर्मी तो मौज–मजा करते हैं । इस जन्म में मिले दुर्लभ सुखों को छोड़ परलोक के सुखों को पाने हेतु धर्म क्यों करना ?, इत्यादि ।

5) देव अवर्णवाद :– देव अर्थात् भवनपति आदि चार प्रकार के देवता । उनकी निंदा–अविश्वास करना देव अवर्णवाद है । जैसे देवों का अस्तित्व ही नहीं है, क्योकि इतनी पूजा, भक्ति और संघ–शासन पर आपत्ति आने पर भी वे नहीं आते हैं, इत्यादि ।

इनसे अतिरिक्त– उन्मार्ग की देशना, धर्ममार्ग का नाश करना, देवद्रव्य का भक्षण करना, मिथ्या मत में कदाग्रह करना, मिथ्यात्व भाव धारण करना, कुदेव–कुगुरु और कुधर्म का सेवन करना इत्यादि कारणों से भी दर्शन मोहनीय का आश्रव होता है ।

स्वयं इनका अवर्णवाद न करे, परंतु अन्य कोई करता हो तो उन्हें सहमति देना, उन्हें सुनना एवं शक्ति होने पर भी प्रतिकार नहीं करना भी महापाप है । अतः बोलने–सुनने में खूब सावधानी रखनी चाहिए ।

चारित्र मोहनीय के आश्रव

कषायोदयात् तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।।6-15।।

सामान्य अर्थ :– कषाय के उदय से आत्मा का तीव्र परिणाम–चारित्र मोहनीय का आश्रव है ।

विवेचन :– सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के बाद भी जब तक आत्मा में सम्यक् चारित्र के परिणाम पैदा न हों, तब तक आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता है । सम्यक्चारित्र की प्राप्ति में बाधक चारित्र मोहनीय कर्म है । चारित्र मोहनीय कर्म के आश्रव का मुख्य हेतु–कषाय के उदय से पैदा होने वाला अति संक्लिष्ट (तीव्र) परिणाम है ।

क्रोध–मान–माया और लोभ रूप चार कषायों का उदय होने पर आत्मा के परिणाम अति तीव्र हो जाते हैं । न करने योग्य कार्यों को अति निर्दयता से आचरण करके आत्मा कठिन कर्मों का बंध करती है, जिससे भवांतर में चारित्र की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ हो जाती है । जैसे–सम्यग् दर्शन आदि गुणसंपन्न साधुओं की अथवा श्रावकों की हँसी–मजाक करना, उनकी निंदा–जुगुप्सा करना, उन पर झूठे आरोप लगाना, उनकी साधना भंग हो वैसे विघ्न करना, उनके साथ कलह–क्लेश करना, दोषदृष्टि से उनके दोषों को देखना इत्यादि सामान्य से चारित्र-मोहनीय कर्म के आश्रव हैं ।

विशेष से नौ नोकषाय के आश्रव इस प्रकार हैं–

1) हास्य मोहनीय :– स्वयं हँसते रहना, अन्य को हँसाना, ज्यादा बोलना, हँसी–मजाक करना इत्यादि ।

2) रति मोहनीय :– विचित्र प्रकार की क्रीड़ा करना, अन्य के

चित्त को आवर्जित करना, देश–दुनिया को देखने में उत्सुकता करना इत्यादि ।

3) अरति मोहनीय :– प्रीति का नाश करना, चोरी आदि पाप कार्य करने का स्वभाव इत्यादि ।

4) भय मोहनीय :– स्वयं डरना, अन्य को डराना, निर्दयता पूर्वक व्यवहार करना इत्यादि ।

5) शोक मोहनीय :– स्वयं शोक करना, अन्य को शोक पैदा कराना, अन्य को शोक प्राप्त होने पर आनंदित होना, इत्यादि ।

6) जुगुप्सा मोहनीय :– चतुर्विध संघ की निंदा–जुगुप्सा करना इत्यादि ।

7) स्त्रीवेद :– शब्द आदि पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहना, ईर्ष्या करना, झूठ बोलना, कुटिल और वक्र आचरण करना, परस्त्री के प्रति प्रेम करना इत्यादि ।

8) पुरुष वेद :– सरलता, क्रोधादि कषायों में मंदता, स्व-स्त्री में संतोष धारण करना, ईर्ष्या आदि असद्-आचरण नहीं करना, इत्यादि ।

9) नपुंसक वेद :– तीव्र क्रोधादि से पशुओं का वध–बन्धन–अंगच्छेद, मुंडन आदि करना, स्त्री–पुरुष के साथ मैथुन सेवन करने के लिए हाथ आदि अवयवों से अनंगक्रीड़ा करना, शीलव्रतधारियों के साथ व्यभिचार सेवन करना, विषयों का तीव्र राग करना इत्यादि ।

नरक गति आयुष्य का आश्रव

बह्वारम्भ परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ।। 6–16।।

सामान्य अर्थ :– अति प्रमाण में आरम्भ–समारंभ की क्रिया एवं अतिशय परिग्रह–नरकायुष्य के आश्रव हैं ।

विवेचन :– नरक गति के आयुष्य के आश्रव हैं–अतिप्रमाण में आरंभ और अतिशय परिग्रह ।

इनसे अतिरिक्त अभिमान करने से, ईर्ष्या करने से, अति लोभ

करने से, विषयों में आसक्त बनने से, महा–आरंभ, रौद्रध्यान, चोरी करने से, जिन–मुनि की हत्या करने से, व्रतभंग करने से, मदिरा–मांस का भक्षण करने से, रात्रि–भोजन करने से, गुणी–जनों की निंदा करने से तथा कृष्ण लेश्या से जीव नरक आयुष्य का आश्रव करता है ।

नरक आयुष्य का मुख्य कारण रौद्र ध्यान है–इस रौद्र ध्यान के चार प्रकार हैं । रौद्र ध्यान का वर्णन नौवें अध्याय के 36 वे सूत्र में होगा ।

अतिशय परिग्रह से नरक गति– पूर्व भव में राजगृही के मम्मण सेठ ने त्यागी तपस्वी महामुनि को अत्यंत ही भक्तिपूर्वक मोदक बहोराया था, परंतु दान देने के बाद उसके परिणाम पतित हो गए थे, उसे अत्यंत ही पश्चात्ताप हो आया । इस प्रकार पश्चात्ताप भाव के कारण उसने अपने पुण्य कर्म को कमजोर कर दिया । इस कर्म के उदय के फलस्वरूप उसे रत्नजड़ित दो सोने के बैलों जितनी धन संपत्ति प्राप्त हुई । अपार संपत्ति होने पर भी मुनि के पास से पुनः मोदक की याचना करने के कारण उसने जिस पाप कर्म का बंध किया, उस कर्म के कारण वह अपार संपत्ति का लेश भी उपभोग नहीं कर सका ।

जीवन पर्यंत अपनी संपत्ति को बढ़ाने में ही प्रयत्नशील रहा । इस प्रकार धन की तीव्र ममता और संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान के पाप के फलस्वरूप उसने नरकायु का बंध किया और वह मरकर 7 वीं नरक में चला गया ।

तिर्यंच गति के आयुष्य का आश्रव

माया तैर्यग्योनस्य ।।6-17।।

सामान्य अर्थ :– माया–तिर्यंच गति के आयुष्य का आश्रव है ।

विवेचन :– माया अर्थात् बाहर से अच्छा व्यवहार करना और मन में दुर्भाव रखना । मायावी व्यक्ति **'मुख में राम–बगल में छुरी '** जैसा व्यवहार करता है । ऐसे व्यवहार से आत्मा को तिर्यंच गति का आश्रव होता है ।

इसके सिवाय– जो शील का पालन नहीं करते हैं, दूसरों को ठगते हैं, उपदेश द्वारा रात–दिन मिथ्यात्व का पोषण करते हैं, झूठे माप–तौल द्वारा व्यापार करते हैं, कपट करते हैं, झूठी साक्षी देते हैं, चोरी करते हैं, वे जीव तिर्यंच गति के आयुष्य का आश्रव करते हैं ।

तिर्यंच आयुष्य का बंध दूसरे गुणस्थानक तक होता है और इसका उदय पाँचवें गुणस्थानक तक होता है ।

मनुष्य गति के आयुष्य का आश्रव

अल्पाऽऽरम्भ–परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवा–ऽऽर्जवं च मानुषस्य ।।6-18।।

सामान्य अर्थ :– अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह, स्वाभाविक नम्रता और स्वाभाविक सरलता–ये मनुष्य गति के आयुष्य के आश्रव हैं ।

विवेचन :– जिसके जीवन में अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह, स्वभाव से ही नम्रता और सरलता होती है, वे मनुष्य गति के आयुष्य का आश्रव करते हैं ।

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति निरंतर परमात्मा की पूजा करता है, निरंतर शास्त्राभ्यास करता है, न्यायपूर्वक अर्थार्जन करता है, यतनापूर्वक मुनि को दान देता है और भद्रिक परिणामी होता है, दूसरों की निंदा का त्याग करता है, परोपकार में रत रहता है, ऐसा व्यक्ति मनुष्य आयुष्य का आश्रव करता है ।

मनुष्य आयु का बंध चौथे गुणस्थानक तक तथा उदय व सत्ता चौदहवें गुणस्थानक तक होती है ।

संख्याता वर्ष के आयुष्य वाला मनुष्य ही मोक्ष में जा सकता है । असंख्य वर्ष के आयुष्य वाला मनुष्य न तो दीक्षा ले सकता है और न ही मोक्ष में जा सकता है । मनुष्य मरकर चारों गतियों में जा सकता है ।

नरक आदि तीन गति के आयुष्य का संयुक्त आश्रव

निःशील व्रतत्वं च सर्वेषाम् ।।6-19।।

सामान्य अर्थ :– शील और व्रत के परिणाम के अभाव से नरक, तिर्यंच और मनुष्य गतियों के आयुष्य का आश्रव होता है ।

विवेचन :– नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति के आयुष्यों के आश्रव, पिछले तीन सूत्रों में अलग–अलग रूप से बताए हैं । इस सूत्र में शील और व्रत के परिणाम के अभाव को संयुक्त रूप से तीनों के आश्रव रूप बताया है ।

देवगति के आयुष्य के आश्रव

सरागसंयम–संयमासंयमा–ऽकामनिर्जरा–बालतपांसि दैवस्य ।।6-20।।

सामान्य अर्थः– सराग संयम, संयम–असंयम, अकामनिर्जरा और बालतप–ये देवगति के आयुष्य के आश्रव हैं ।

विवेचन :– सरागसंयम, देशविरति, अकामनिर्जरा और अज्ञान कष्ट–बालतप, ये देवगति के आयुष्य के आश्रव हैं । इनका वर्णन इसी अध्याय के 13 वें सूत्र में किया गया है ।

इनके अतिरिक्त जो मनुष्य परमात्मा की पूजा करता है, समता भाव में लीन बनकर प्रभु का ध्यान करता है, शोक–संताप दूर कर साधु–साध्वी को शुद्ध आहार का दान करता है, गुणीजन पर राग करता है, व्रत ग्रहण कर उनका पालन करता है, यतनापूर्वक वर्तन करता है, जीवों पर अनुकंपा करता है और तीन काल गुरुवंदन आदि करता है, वह व्यक्ति वैमानिक आदि देवगति के आयुष्य का बंध करता है ।

जो पंचाग्नि तप सहन करता है, वन में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, कष्ट सहन कर देह का दमन करता है–वह भी देवायु का बंध करता है ।

देव आयुष्य का बंध एक से सातवें गुणस्थानक तक होता है और देवायु का उदय एक से चार गुणस्थानक तक होता है । देवायु की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थानक तक होती है, क्योंकि देवायु बंध हुआ जीव उपशम श्रेणी पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थानक तक चढ़ सकता है ।

अशुभ नाम कर्म के आश्रव

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।।6-21।।

सामान्य अर्थ :– मन–वचन–काया के योगों की वक्रता एवं विसंवाद–ये अशुभ नाम कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– नाम कर्म चित्रकार के समान है, जो संसार में रहे जीवों के अलग–अलग रूप–आकार आदि देता है । मन की वक्रता, वचन की वक्रता, काया की वक्रता एवं विसंवाद ये चार अशुभ नाम कर्म के आश्रव के कारण हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1) मन की वक्रता :– मन में मायापूर्वक का चिंतन करना ।

2) वचन की वक्रता :– झूठ बोलना–माया मृषावाद करना इत्यादि ।

3) काया की वक्रता :– काया से रूप परिवर्तन कर लोगों को ठगना इत्यादि ।

4) विसंवादन :– स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा का पालन नहीं करना इत्यादि ।

इनके अतिरिक्त–रस गारव, ऋद्धि गारव और शाता गारव करने से, झूठी साक्षी देने से, माल में मिलावट करके बेचने से, दुराचार आदि पाप करने से आत्मा अशुभ नाम कर्म का आश्रव करती है ।

34–अशुभ नामकर्म :– 1) नरक गति, 2) नरकानुपूर्वी, 3) तिर्यंच गति, 4) तिर्यंचानुपूर्वी, (5 से 8)–एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति, (9 से 13) ऋषभनाराच आदि पाँच संघयण, (14 से 18)–न्यग्रोध

परिमंडल आदि पाँच संस्थान, (19 से 22) अशुभ वर्ण–गंध–रस–स्पर्श, 23) अशुभ विहायोगति 24) उपघात (25 से 34) स्थावरदशक ।

शुभ नाम कर्म के आश्रव

विपरीतं शुभस्य ।।6-22।।

सामान्य अर्थ :– अशुभ नाम कर्म के आश्रव से विपरीत–शुभ नाम कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– मन–वचन और काया की सरलता एवं अविसंवाद ये चार शुभ नाम कर्म के आश्रव हैं ।

इनके अतिरिक्त–तीन गारव से मुक्त रहना, भवभीरु, क्षमा आदि गुणों से आत्मा शुभ नाम कर्म का आश्रव करती है ।

37 शुभ नाम कर्म :– 1) देव गति 2) देवानुपूर्वी 3) मनुष्य गति 4) मनुष्यानुपूर्वी 5) पंचेन्द्रिय जाति,(6 से 10) पाँच शरीर, (11 से 13) औदारिक–वैक्रिय–आहारक शरीर के अंगोपांग 14) वज्रऋषभ नाराच संघयण, 15) समचतुरस्र संस्थान, (16 से 19) शुभ वर्ण–गंध–रस–स्पर्श 20) शुभ विहायोगति (21 से 27) उपघात के बिना सात प्रत्येक प्रकृति (28 से 37) त्रस दशक ।

तीर्थंकर नाम कर्म के आश्रव

दर्शनविशुद्धि–र्विनयसंपन्नता–शील–व्रतेष्वनतिचारो-ऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग–संवेगौ शक्तितस्त्याग–तपसी संघ–साधु–समाधि–वैयावृत्त्यकरण–महदाचार्य–बहुश्रुत–प्रवचन–भक्तिरावश्यकाऽपरिहाणि–र्मार्गप्रभावना प्रवचन वत्सल–त्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।।6-23।।

सामान्य अर्थ :– 1) सम्यग् दर्शन की शुद्धि, 2) विनयगुणसंपन्नता, 3) निरतिचार शील एवं व्रतों का पालन, 4) बार–बार ज्ञानोपयोग 5) बार–बार संवेग, 6) यथाशक्ति त्याग 7) यथाशक्ति तप, 8) संघ की समाधि

करना, 9) साधु की वैयावच्च करना, 10) अरिहंत की भक्ति, 11) आचार्य की भक्ति, 12) बहुश्रुत की भक्ति, 13) प्रवचन की भक्ति, 14) आवश्यक क्रिया को न छोडना, 15) मोक्षमार्ग की प्रभावना 16) प्रवचन वत्सलत्व–ये सभी तीर्थंकर नाम कर्म के आश्रव हैं। अर्थात् इनसे तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

विवेचन :– पुण्य उदय के 42 भेदों में से सर्वश्रेष्ठ पुण्योदय तीर्थंकर नाम कर्म है। यह जरूरी नहीं कि सभी प्रकार के पुण्योदय–स्वयं और अन्य को लाभदायी ही हों, जैसे वेश्या को सुंदर रूप एवं कसाई को शारीरिक बल की प्राप्ति पुण्योदय से होती है, परंतु उनका यह पुण्योदय स्व–पर को नुकसानकारक अर्थात् पापबंध का ही कारण बनता है। जबकि तीर्थंकर नाम कर्म का उदय ऐसा उत्कृष्ट पुण्योदय है, जो स्वयं और अन्य सभी को लाभदायी होता है। तीर्थंकर स्वयं तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं, बल्कि उनके एवं उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध श्रीसंघ के आलंबन से अनेक भव्यात्माएँ जन्म–जरा और मरण के बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती हैं।

तीर्थंकर नाम कर्म के आश्रव इस प्रकार हैं–

1) सम्यग् दर्शन की विशुद्धि :– शंका आदि पाँच अतिचारों से रहित सर्वश्रेष्ठ सम्यग् दर्शन का विशुद्ध पालन करना। वैसे तो सभी सम्यग् दृष्टि आत्मा को ग्रंथि–भेद एक समान होता है, परंतु उनके सम्यग् दर्शन की निर्मलता में भेद होता है। तीर्थंकर बनने की योग्यतावाले जीवों का तथाभव्यत्व सर्वोत्कृष्ट होता है, इसलिए उनके सम्यग्दर्शन की निर्मलता भी सर्वोत्कृष्ट होती है।

2) विनयसंपन्नता :– विनय अर्थात्–जिसके द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म दूर किये जाते हैं। विनय के चार प्रकार हैं–ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय।

i) ज्ञान विनय :– सूत्र को यथाकाल, बहुमान पूर्वक, उपधान आदि करके पढ़ना।

ii) दर्शन विनय :– शंका–आकांक्षा आदि रहित दर्शनाचार का पालन करना ।

iii) चारित्र विनय :– समिति–गुप्ति के पालन की प्रधानता ।

iv) उपचार विनय :– उपकारी आचार्य आदि गुरुभगवंतों का अभ्युत्थान, आसनप्रदान, अंजलि आदि विनय–बहुमान करना ।

मोक्षमार्ग के साधनभूत विनय के पात्रों का विनय करना, यह विनयसंपन्नता है ।

3) निरतिचार शील एवं व्रतों का पालन :– शील और व्रत के पालन में जब प्रमाद होता है, तब अतिचार दोष लगते हैं । शील अर्थात् पिंड विशुद्धि आदि उत्तर गुण (करण सित्तरी) और व्रत अर्थात् सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रतादि (चरण सित्तरी)–इनके पालन में कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद द्वारा होने वाले अतिचारों का त्याग करना ।

4) बार–बार ज्ञानोपयोग :– ज्ञान अर्थात् द्वादशांगी रूप प्रवचन । उसमें सूत्र, अर्थ और उभय संबंधी आत्मिक एकाग्रता रूप उपयोग । आत्मा के भीतर ज्ञान ओतप्रोत हो जाना ।

सम्यग् ज्ञान प्रदीप, अंकुश, प्रासाद और नाव के समान है । प्रदीप (दीपक) रूप सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है । अंकुश रूप सम्यग्ज्ञान इन्द्रियरूप हाथी को काबू में रखता है । प्रासाद (घर) रूप सम्यग्ज्ञान सुख प्राप्त करने का साधन है और नाव रूप सम्यग्ज्ञान आत्मा को संसार सागर से पार ले जाता है ।

5) बार–बार–संवेग :– संवेग अर्थात् संसार का भय उत्पन्न होने से उससे छूटने का परिणाम । स्वाध्याय आदि ज्ञानोपयोग से संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, जिससे संसार के सुख भी दुःख रूप, दुःखफलक और दुःख के अनुबंध वाले लगते हैं और उससे छूटने की इच्छा रूप संवेग पैदा होता है ।

6) यथाशक्ति त्याग :– अपनी शक्ति के अनुरूप, न्याय–नीति से प्राप्त हुए धन आदि का सुपात्र में दान देना आदि ।

7) यथाशक्ति तप :– अपनी शक्ति के अनुरूप बाह्य और

अभ्यंतर तप में प्रयत्न करना । तप करने से आत्मा के कर्मों का शोषण होता है ।

8) संघ को समाधि प्रदान करना :– ज्ञान आदि रत्नत्रयी का आधार साधु आदि चतुर्विध संघ है । उनको समाधि देना–अर्थात् स्वयं अशांति नहीं करना और अन्य के द्वारा हुई अशांति को शांत करना । साधु–साध्वी सुंदर रूप से संयम-जीवन का पालन कर सकें ऐसी व्यवस्था करने में शक्य प्रयत्न करना एवं पीड़ा पाते हुए श्रावक–श्राविका को धर्म के मार्ग में जोड़ना–स्थिर करना इत्यादि ।

9) साधु की वैयावच्च करना :– गृहवास का त्यागकर, जिन्होंने संयम-जीवन को स्वीकार किया है–ऐसे साधुओं की वैयावच्च करना । उनके कार्य करने में तत्पर रहना, इत्यादि ।

10) अरिहंत की भक्ति :– राग–द्वेष आदि अठारह दोषों से रहित अरिहंत परमात्मा के गुणों की स्तुति करना, उन्हें वंदन करना, पुष्प आदि से पूजा करना, इत्यादि भक्ति करना ।

11) आचार्य की भक्ति :– स्वयं पंचाचार का पालन करने वाले एवं श्रीसंघ को भी पालन कराने वाले, 36 गुणों के धारक आचार्य होते हैं । उनके आगमन पर बहुमानपूर्वक सामने लेने जाना, उन्हें वंदन करना, उनके प्रवेश आदि में महोत्सव करना इत्यादि रूप से आचार्य की भक्ति करना ।

12) बहुश्रुत की भक्ति :– बहुश्रुत अर्थात् आगमशास्त्र को जाननेवाले । उनके पास विधिपूर्वक अभ्यास करना, उनका विनय, अनुमोदना, प्रशंसा इत्यादि भक्ति करना ।

13) प्रवचन की भक्ति :– प्रवचन अर्थात् आगमशास्त्र आदि श्रुतज्ञान । ऐसे श्रुतज्ञान का प्रतिदिन अभ्यास करना, नए–नए सूत्रों को कंठस्थ करना, कंठस्थ किये सूत्र–अर्थ आदि का पुनरावर्तन करना, अन्य को श्रुत पढाना, श्रुत ज्ञान का प्रचार–प्रसार करना इत्यादि अनेक प्रकार से प्रवचन की भक्ति करना ।

14) आवश्यक अपरिहानि :– आवश्यक अर्थात् प्रतिदिन अवश्य आचरण करने योग्य क्रिया । सामायिक आदि छह आवश्यक चतुर्विध

श्रीसंघ को प्रतिदिन अवश्य आचरण करने योग्य होने से उन्हें आवश्यक कहते है। यहाँ आवश्यक का अर्थ है–साधु-जीवन के निर्वाह हेतु–इच्छाकार, मिच्छाकार आदि सामाचारी का पालन । इन क्रियाओं को भावपूर्वक, विधिपूर्वक एवं यथोक्त समय पर करना–आवश्यक की अपरिहानि है। इन आवश्यकों का पालन मानसिक उपयोग के साथ करना है। मानसिक उपयोग के बिना की हुई धर्मक्रिया मात्र द्रव्य क्रिया है। द्रव्य क्रिया के द्वारा पुण्यबंध और कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है।

15) मोक्षमार्ग की प्रभावना :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षप्राप्ति का उपाय है। ऐसे मोक्षमार्ग की प्रभावना अर्थात् स्वंय पालन कर, अन्य जीवों को भी उसके पालन में जोड़ने के लिए उपदेश देना आदि द्वारा मोक्षमार्ग का प्रचार–प्रसार करना इत्यादि ।

16) प्रवचन वत्सलता :– प्रवचन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, फिर भी यहाँ–प्रवचन शब्द का अर्थ श्रुतधर, बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी, शैक्षक, आदि साधु का गण समझना है। इनके प्रति वात्सल्यभाव धारण करना प्रवचन वत्सलता है ।

माता का अपने पुत्र आदि के प्रति जो अकृत्रिम प्रेम होता है, उसे वात्सल्य कहते हैं। ऐसा वात्सल्य जैनशासन की आराधना करनेवाले प्रत्येक अंग के प्रति होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त–1) अरिहंत, 2) सिद्ध, 3) प्रवचन, 4) आचार्य, 5) स्थविर, 6) उपाध्याय, 7) साधु, 8) ज्ञान, 9) सम्यग्दर्शन, 10) विनय, 11) आवश्यक क्रिया, 12) चारित्र, 13) ध्यान, 14) तप, 15) दर्शन, 16) वैयावच्च, 17) संघ, 18) अभिनव ज्ञान, 19) श्रुतज्ञान, 20) शासन प्रभावना–इन 20 स्थानकों की आराधना–भक्ति अथवा इनमें से किसी एक, दो आदि की आराधना–भक्ति भी तीर्थंकर नाम कर्म का आश्रव है। इन आश्रवों के सेवन के साथ जब जगत् के सभी जीवों को शासनरसिक करने की प्रकृष्ट भावना जागृत होती है तब आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करती है ।

नीच गोत्र के आश्रव

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।।6-24।।

सामान्य अर्थ :– परनिंदा, स्वप्रशंसा, सद्गुण–आच्छादन और असद्गुण–उद्भावन–ये नीच गोत्र कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– आत्मा चार गतियों रूप संसार में नीचत्व, न्यूनत्व आदि प्राप्त करती है, उसमें नीच गोत्र कर्म कारण है । नीच गोत्र कर्म के चार आश्रव है–

1) परनिंदा :– अन्य में विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को उन्हें नीचा दिखाने की दुष्ट बुद्धि से प्रकट करना ।

2) स्वप्रशंसा :– स्वयं में विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों को स्व–उत्कृर्ष की बुद्धि से प्रकट करना ।

3) सद्गुण आच्छादन :– ईर्ष्या आदि दोषों के कारण अन्य में रहे सद्गुणों को ढकना अर्थात् उनकी अनुमोदना के अवसर पर उन पर प्रकाश नहीं डालना ।

4) असद्गुण उद्भावन :– स्वयं के उत्कर्ष की भावना से स्वयं में न रहे गुणों की भी विद्यमानता बताना ।

इसके अतिरिक्त–जाति, कुल, तप, बल, विद्या, रूप, वैभव, लाभ, ऐश्वर्य आदि का अभिमान करने से नीच गोत्र का आश्रव होता है ।

जिनागमों में अरुचि रखने से, बहुश्रुत की सेवा नहीं करने से, अध्ययन की रुचि वाले मुनियों की निंदा करने से, दूसरे के गुण छिपाकर दोष प्रकट करने से, झूठी साक्षी देने से नीच गोत्र का आश्रव होता है ।

उच्च गोत्र के आश्रव

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।।6-25।।

सामान्य अर्थ :–नीच गोत्र के आश्रवों से विपरीत–अर्थात् स्वनिंदा,

परप्रशंसा, सद्गुण–उद्भावन और असद्गुणाच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक–ये छह उच्च गोत्र कर्म के आश्रव हैं ।

विवेचन :– आत्मा चार गति रूप संसार में मान–सन्मान–उच्चत्व आदि प्राप्त करती है, उसमें उच्च गोत्र कर्म कारण है । उच्च गोत्र कर्म के छह आश्रव है–

1) स्वनिंदा :– स्वयं के दोषों को प्रकट करना ।

2) पर प्रशंसा :– अन्य में रहे सद्गुणों की प्रशंसा–अनुमोदना करना ।

3) सद्गुण उद्भावन :– अन्य में रहे गुणों को प्रकट करना–उन्हें आगे बढ़ावा देना ।

4) असद्गुणाच्छादन :– अन्य में रहे दोषों को छिपाना । अथवा **स्व–सद्गुणाच्छादन**–स्वोत्कर्ष के त्याग हेतु स्वयं के सद्गुणों को छिपाना ।

5) नम्रवृत्ति :– गुणीजनो के प्रति विनय और नम्रतापूर्वक व्यवहार करना ।

6) अनुत्सेक :– स्वयं में विशिष्ट ज्ञानादि गुण होने पर भी अभिमान नहीं करना ।

इसके सिवाय–1) सम्यक्त्व सहित व्रतों का पालन करने से, जिनेश्वर परमात्मा की पुष्पों से पूजा करने से श्रावक उच्च गोत्र का आश्रव करता है ।

2) जाति, कुल, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य का अभिमान नहीं करने से उच्च गोत्र का आश्रव होता है ।

अन्तराय कर्म के आश्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।6–26।।

सामान्य अर्थ :– दानादि में विघ्न करने से अंतराय कर्म का आश्रव होता है ।

विवेचन :– अन्य सभी सामग्री अनुकूल होने पर भी कार्यसिद्धि में होने वाले विघ्न का मुख्य कारण अंतराय कर्म है । अंतराय कर्म के पाँच भेद हैं– 1) दानान्तराय, 2) लाभान्तराय, 3) भोगांतराय, 4) उपभोगान्तराय, 5) वीर्यान्तराय । दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य–इनमें विघ्न करने से दानान्तराय आदि कर्मों का आश्रव होता है । दानान्तराय आदि के स्वरूप के पहले दानादि का स्वरूप जानना जरूरी है अतः पहले इनका स्वरूप बताते हैं–

1) दान :– स्वयं और अन्य पर उपकार की बुद्धि से अन्न आदि सामग्री प्रदान करना ।

2) लाभ :– इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना ।

3) भोग :– जिस वस्तु का उपयोग मात्र एक ही बार कर सके, ऐसे साधनों का उपयोग करना । जैसे– भोजन आदि ।

4) उपभोग :– जिस वस्तु का उपयोग बार–बार कर सके, एसे साधनों का उपयोग करना । जैसे– वस्त्र, पात्र आदि ।

5) वीर्य :– मन–वचन–काया की चेष्टा रूप आत्मपरिणाम ।

दानान्तराय आदि के आश्रव इस प्रकार हैं–

1) दानान्तराय :– किसी व्यक्ति को दान करने की इच्छा होने पर, उस व्यक्ति को दान के दूषण आदि बताकर दान करने में विघ्न करना । दान के अनेक प्रकार हैं–ज्ञानदान, सुपात्र दान, अनुकंपा दान, सत्कार–सन्मान दान आदि । इनमें विघ्न करने से बाद में ज्ञान आदि दान के अनुकूल सामग्री होने पर भी इनका दान नहीं कर सकते हैं ।

2) लाभान्तराय :– किसी व्यक्ति को ज्ञान, अन्न, वस्त्र, धन आदि की प्राप्ति में विघ्न करना । ज्ञानादि दाता को दान देने की इच्छा होने पर भी अन्याय–अनीति, चोरी आदि करके अन्य को दान न मिले, इस प्रकार विघ्न करना इत्यादि । इनमें विघ्न करने से हमें हमारे इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती है ।

3) भोगान्तराय :– किसी व्यक्ति के पास भोजन आदि भोग की अनुकूल सामग्री होने पर भी उन्हें उस वस्तु के भोग में विघ्न करना। जैसे

नौकर आदि कोई व्यक्ति भोजन करता हो, तब उसे अन्य काम सौंपकर, भोजन आदि में विघ्न करना इत्यादि। दूसरों को विघ्न करने से हमें भी भोग में विघ्न होता है। उदा. श्री ऋषभदेव भगवान पूर्व भव में बैल के आहार में अन्तराय में निमित्त बने, जिसके फल स्वरूप उन्हें दीक्षा के बाद एक वर्ष तक आहार की प्राप्ति नहीं हुई।

4) उपभोगान्तराय :– किसी व्यक्ति के पास स्त्री, वस्त्र, आदि उपभोग के अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर भी उन्हें उस वस्तु के उपभोग में विघ्न करना। परस्त्री आदि का अपहरण करना, पति–पत्नी में क्लेश करवाना इत्यादि। इसमें विघ्न करने से हमें भी भोग में विघ्न होता है। उदा. मम्मण शेठ ने पूर्व भव में मुनि भगवंत को मोदक का दान कर पुण्य से अपार संपत्ति प्राप्त की, परंतु दिये हुए मोदक को वापस माँगकर उपभोगांतराय कर्म का बंध किया, जिससे प्राप्त हुई संपत्ति का भी उपभोग न कर सका। मरकर सातवीं नरक में चला गया।

5) वीर्यांतराय :– अन्य को प्राप्त हुई शक्ति का नाश करना। शक्ति के सही उपयोग में विघ्न करना। पशुओं के अंगच्छेद करना–करवाना। धार्मिक कार्य में शक्ति अनुसार प्रयत्न नहीं करना। अन्य के उत्साह को भंग करना। अन्य के तप आदि में विघ्न करना इत्यादि। इनमें विघ्न करने से हमें शक्ति की हीनता प्राप्त होती है।

इनके अतिरिक्त– जिनेश्वर परमात्मा की पूजा में विघ्न करने से, हिंसा आदि पापाचरण में रत रहने से अंतराय कर्म का आश्रव होता है।

इस प्रकार आठ कर्मों के आश्रवों को जानकर इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि इन आश्रव स्थानों का त्याग नहीं किया जाय तो अपनी आत्मा चार गतियों में ही परिभ्रमण करती रहेगी। अतः प्रतिपल सावधान रहकर इन आश्रवों का त्याग करना चाहिए।

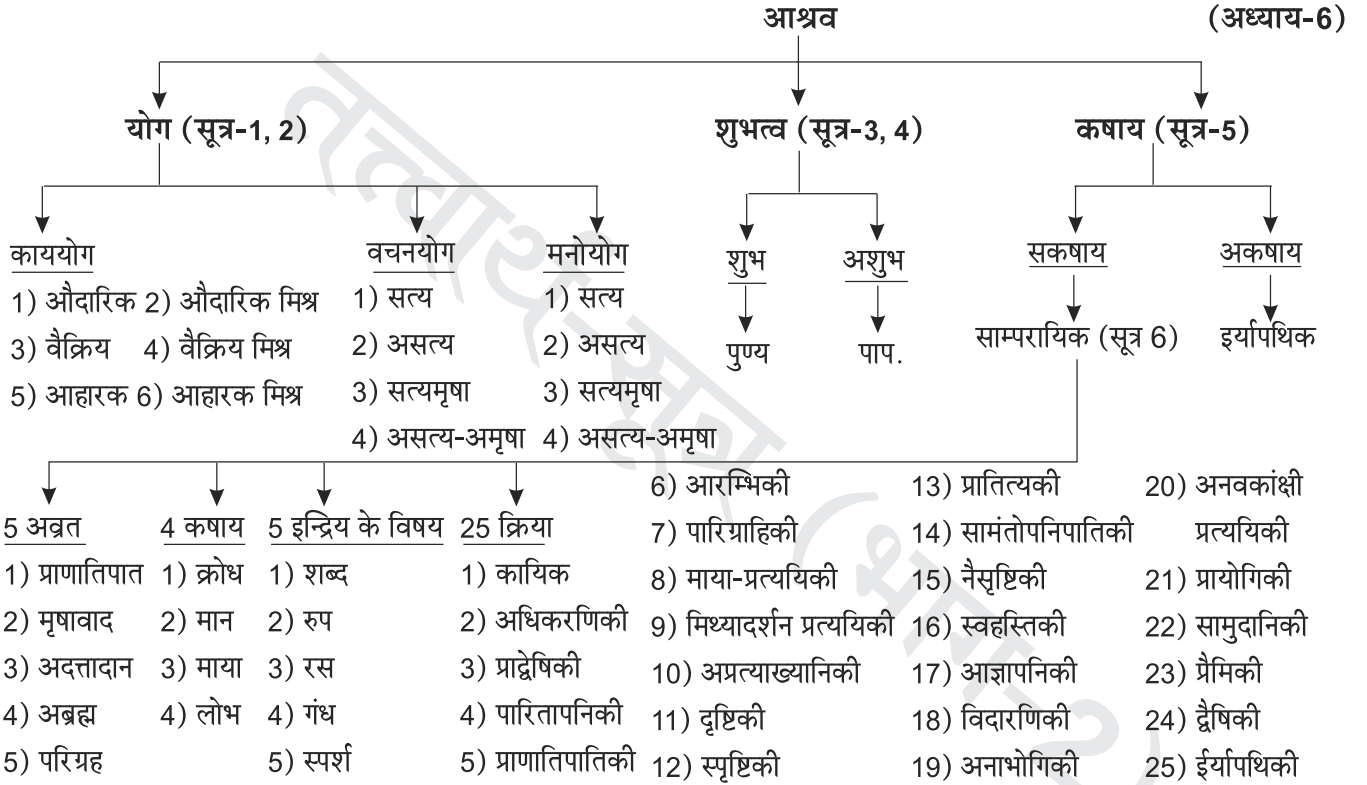
आश्रव
(अध्याय-6)
योग (सूत्र-1, 2)
शुभत्व (सूत्र-3, 4)
कषाय (सूत्र-5)
काययोग
1) औदारिक 2) औदारिक मिश्र
3) वैक्रिय 4) वैक्रिय मिश्र
5) आहारक 6) आहारक मिश्र
वचनयोग
1) सत्य
2) असत्य
3) सत्यमृषा
4) असत्य-अमृषा
मनोयोग
1) सत्य
2) असत्य
3) सत्यमृषा
4) असत्य-अमृषा
शुभ
पुण्य
अशुभ
पाप.
सकषाय
साम्परायिक (सूत्र 6)
अकषाय
इर्यापथिक
5 अव्रत
1) प्राणातिपात
2) मृषावाद
3) अदत्तादान
4) अब्रह्म
5) परिग्रह
4 कषाय
1) क्रोध
2) मान
3) माया
4) लोभ
5 इन्द्रिय के विषय
1) शब्द
2) रुप
3) रस
4) गंध
5) स्पर्श
25 क्रिया
1) कायिक
2) अधिकरणिकी
3) प्राद्वेषिकी
4) पारितापनिकी
5) प्राणातिपातिकी
6) आरम्भिकी
7) पारिग्राहिकी
8) माया-प्रत्ययिकी
9) मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी
10) अप्रत्याख्यानिकी
11) दृष्टिकी
12) स्पृष्टिकी
13) प्रातित्यकी
14) सामंतोपनिपातिकी
15) नैसृष्टिकी
16) स्वहस्तिकी
17) आज्ञापनिकी
18) विदारणिकी
19) अनाभोगिकी
20) अनवकांक्षी प्रत्ययिकी
21) प्रायोगिकी
22) सामुदानिकी
23) प्रैमिकी
24) द्वैषिकी
25) ईर्यापथिकी

भावो के आधार पर होने वाले कर्म आश्रव के भेद (सूत्र 7)

तीव्र | मंद | ज्ञातभाव | अज्ञातभाव | वीर्य | अधिकरण (सूत्र-8)

जीव (सूत्र 9)

1) संरम्भ 2) समारम्भ 3) आरम्भ	x	1) मन 2) वचन 3) काया	x	1) करण 2) करावण 3) अनुमोदन	x	1) क्रोध 2) मान 3) माया 4) लोभ	= 108

अजीव (सूत्र 10)

1) निर्वर्तना	2) निक्षेप	3) संयोग	4) निसर्ग
(i) मूलगुण	(i) अप्रत्यवेक्षित	(i) भक्तपान	(i) काय
(ii) उत्तरगुण	(ii) दुष्प्रमार्जित	(ii) वस्त्र	(ii) वचन
	(iii) सहसा		(iii) मन
	(iv) अनाभोग		

कर्मो के आश्रव

ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय (सूत्र 11)	असाता वेदनीय (सूत्र 12)	साता वेदनीय (सूत्र 13)	दर्शन मोहनीय (सूत्र 14)	चारित्र मोहनीय (सूत्र 15)	नरक आयुष्य (सूत्र 16,19)	तिर्यंच आयुष्य (सूत्र 17,19)	मनुष्य आयुष्य (सूत्र 18, 19)	देव आयुष्य (सूत्र 20)
1) प्रदोष	1) दु:ख	1) भूत अनुकंपा	1) केवली निंदा	क्रोधादि कषाय के उदय से आत्मा का तीव्र परिणाम	1) अति प्रमाण मे आरंभ-समारंभ	1) माया	1) अल्प आरंभ	1) सराग संयम
2) निह्नव	2) शोक	2) व्रती अनुकंपा	2) श्रुत निंदा		2) अतिशय परिग्रह	2) शील और व्रत के परिणाम का अभाव	2) अल्प परिग्रह	2) देश विरति
3) मात्सर्य	3) ताप	3) दान	3) संघ निंदा		3) शील और व्रत के परिणाम का अभाव		3) स्वाभाविक नम्रता	3) अकाम निर्जरा
4) अन्तराय	4) आक्रन्दन	4) सरागसंयम	4) धर्म निंदा				4) स्वाभाविक सरलता	4) बाल तप
5) आसादन	5) वध	5) संयमासंयम	5) देव निंदा				5) शील और व्रत के परिणाम का अभाव	
6) उपघात	6) परिदेवन	6) अकाम निर्जरा						
		7) बाल तप						
		8) क्षमा						
		9) शौच						

कर्मो के आश्रव (चालु)

अशुभ नामकर्म (सूत्र-21)

1) मन की वक्रता
2) वचन की वक्रता
3) काया की वक्रता
4) विसंवादन

शुभ नामकर्म (सूत्र-22)

1) मन की सरलता
2) वचन की सरलता
3) काया की सरलता
4) अविसंवाद

तीर्थंकर नामकर्म (सूत्र-23)

1) सम्यग्दर्शन की विशुद्धि
2) विनय संपन्नता
3) निरतिचार शील एवं व्रत पालन
4) बार-बार-ज्ञानोपयोग
5) बार-बार संवेग
6) यथाशक्ति त्याग
7) यथाशक्ति तप
8) संघ की समाधि
9) साधु की वैयावच्च
10) अरिहंत की भक्ति
11) आचार्य की भक्ति
12) बहुश्रुत की भक्ति
13) प्रवचन की भक्ति
14) आवश्यक क्रिया न छोडना
15) मोक्षमार्ग की प्रभावना
16) प्रवचन वात्सल्य

नीच गोत्रकर्म (सूत्र-24)

1) परनिंदा
2) स्वप्रशंसा
3) सद्गुण आच्छादन
4) असद्गुण उद्भावन

उच्च गोत्रकर्म (सूत्र-25)

1) सवनिंदा
2) परप्रशंसा
3) सद्गुण उद्भावन
4) असद्गुण आच्छादन
5) नम्रवृत्ति
6) अनुत्सेक

अन्तराय कर्म (सूत्र-26)

1) दान में विघ्न
2) लाभ में विघ्न
3) भोग में विघ्न
4) उपभोग में विघ्न
5) वीर्य में विघ्न

तत्त्वार्थसूत्र (भाग-2)

7

सातवाँ अध्याय

छठे अध्याय में कर्म के आश्रव-द्वार बताए, अब सातवें अध्याय में व्रत का स्वरूप एवं उनके अतिचारों का वर्णन करते है–

व्रत का स्वरूप

हिंसा–ऽनृत–स्तेया–ऽब्रह्म–परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।।7-1।।

सामान्य अर्थ :– हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह–इन पाँच पापों से विरति (त्याग) करना व्रत है ।

विवेचन :– हिंसा करना, असत्य बोलना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना और परिग्रह रखना ये पाँच मुख्य पाप हैं । इन पापों के स्वरूप को जानकर, मन–वचन और काया से इन पापों का त्याग करना व्रत है । (इन पापों का स्वरूप इस अध्याय के 8 से 12 सूत्र में बताया जाएगा)

- हिंसा के पाप का त्याग करना–प्राणातिपात विरमण व्रत है ।
- अनृत (असत्य) के पाप का त्याग करना–मृषावाद विरमण व्रत है ।
- स्तेय (चोरी) के पाप का त्याग करना–अदत्तादान विरमण व्रत है ।
- अब्रह्म (मैथुन) के पाप का त्याग करना – मैथुन विरमण व्रत है ।
- परिग्रह के पाप का त्याग करना – परिग्रह विरमण व्रत है ।

इन पाँचो व्रतों में प्रथम व्रत–प्राणातिपात विरमण व्रत मुख्य है । इस व्रत के रक्षण के लिए ही अन्य चार व्रत हैं । व्रत के स्वीकार से शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति, दोनों कार्य होते हैं । फिर भी यहाँ अशुभ से निवृत्ति की प्रधानता होने से व्रत को निवृत्ति रूप में कहा है कि हिंसादि पाँच पापों की विरति करना व्रत है ।''

कर्मबंध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग–ये चार मुख्य द्वार हैं । सम्यक्त्व के स्वीकार से मिथ्यात्व का द्वार बंद हो जाता है, व्रत के स्वीकार से अविरति का द्वार बंद हो जाता है । शेष कषाय और योग के द्वार व्रतों के पालन द्वारा बंद हो सकते है ।

पाँच व्रतों के मुख्य दो भेद

देश–सर्वतोऽणु–महती ।।7-2।।

सामान्य अर्थ :– हिंसा आदि पापों की आंशिक विरति–अणुव्रत है और सर्वथा विरति महाव्रत है ।

विवेचन :– हिंसा आदि पापों का सर्वथा त्याग महाव्रत है और आंशिक त्याग अणुव्रत है ।

पाँच महाव्रत–

1) सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करना, दूसरों से हिंसा नहीं करवाना और हिंसा करते हुए की अनुमोदना नहीं करना ।

2) सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से झूठ नहीं, बोलना दूसरों से झूठ नहीं बुलवाना और झूठ बोलने वाले की अनुमोदना नहीं करना ।

3) सर्वथा अदत्तादान विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से चोरी नहीं, करना दूसरों से चोरी नहीं करवाना और चोरी करने वाले की अनुमोदना नहीं करना ।

4) सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से मैथुन-सेवन नहीं, करना दूसरों से नहीं करवाना और करते हुए की अनुमोदना नहीं करना ।

5) सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से परिग्रह धारण नहीं, करना अन्य से नहीं करवाना और करते हुए की अनुमोदना नहीं करना ।

साधु-जीवन में की जाने वाली इन महाव्रतों की प्रतिज्ञा में सभी पापों का त्याग तीन योग और तीन करण से होने से (3x3=9) नौ कोटि की प्रतिज्ञा होती है ।

पाँच अणुव्रत–

1) स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत :– इस व्रत के अन्तर्गत स्थूल रूप से हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है ।

संसारी जीवों के दो भेद हैं–त्रस और स्थावर ।

1) श्रावक के लिए स्थावर (पृथ्वीकाय–अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) की हिंसा का त्याग अशक्य है, अतः वह इन दोनों में से त्रस जीवों की हिंसा के त्याग की ही प्रतिज्ञा करता है, स्थावर–हिंसा के त्याग की नहीं । फिर भी स्थावर जीवों की हिंसा से बचने के लिए यथाशक्य प्रयत्न अवश्य करता है ।

2) त्रस जीवों में भी संकल्पपूर्वक की जानेवाली हिंसा का ही त्याग होता है, क्योंकि व्यापार, खेती, कारखाना, रसोई, मकान–निर्माण आदि में हिंसा का संकल्प न होने पर भी त्रस जीवों की हिंसा हो ही जाती है । अतः इस व्रत में त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है ।

3) त्रस की संकल्पी हिंसा में भी श्रावक निरपराध की हिंसा का ही त्याग करता है । यदि कोई दुष्ट व्यक्ति स्वस्त्री अथवा पुत्री आदि पर बलात्कार करता हो अथवा कोई धन अपहरण करता हो, उस समय श्रावक अपराधी को योग्य दण्ड भी देता है । इस प्रकार श्रावक को निरपराधी की हिंसा का ही त्याग होता है अपराधी की हिंसा का नहीं ।

4) श्रावक निरपराधी की भी निष्कारण हिंसा का त्याग करता है । कारण आने पर तो उसकी हिंसा की भी वह छूट रखता है । जैसे–प्रमादी पुत्र आदि को शिक्षा देने के लिए डण्डे से पीटना आदि ।

इस प्रकार श्रावक इस व्रत के अन्तर्गत निष्कारण, निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक की जानेवाली हिंसा का त्याग करता है ।

इन चार विकल्पों के कारण क्रमशः आधा, आधा करने से साधुओं के महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत में, एक रुपये (16 आना =100 पैसा) की अपेक्षा एक आना (सवा छह पैसे) जितनी अहिंसा का पालन होता है ।

2) स्थूल मृषावाद विरमणव्रत :– मृषावाद अर्थात् झूठ बोलना । झूठ बोलने से भयंकर पाप कर्म का बंध होता है और आत्मा की दुर्गति

होती है । इस लोक में झूठ बोलनेवाला व्यक्ति सभी का अविश्वासपात्र बन जाता है । झूठ बोलने से अन्य जीवों को पीड़ा होती है, अतः मुमुक्षु आत्मा के लिए इसका त्याग अनिवार्य हो जाता है ।

इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक पाँच प्रकार के बड़े असत्यों के त्याग की प्रतिज्ञा करता है ।

i) कन्या संबंधी असत्य :– कन्या के विवाह–संबंध के लिए झूठ बोलना । जैसे–किसी कन्या का विवाह–संबंध बैठ नहीं रहा हो तो उसकी उम्र, योग्यता, शिक्षण, रोग आदि के संबंध में झूठ बोलना । इस असत्य के अन्तर्गत पुत्र–नौकर आदि संबंधी असत्य भी समझ लेना चाहिए ।

ii) गौ संबंधी असत्य :– गाय को बेचने के लिए तथा ज्यादा मुनाफे के लिए उसकी उम्र, स्वास्थ्य तथा रोग आदि के संबंध में झूठ बोलना । जैसे–गाय दूध कम देती हो फिर भी उसे ज्यादा दुधारु बताना । उसकी उम्र ज्यादा हो फिर भी कम बताना इत्यादि ।

गाय संबंधी झूठ के अन्तर्गत अन्य भैंस, बैल, बकरी आदि पशुओं को भी समझ लेना चाहिए ।

iii) भूमि संबंधी असत्य :– भूमि को बेचते समय उसके उपजाऊपन आदि के संबंध में झूठ बोलना । जैसे–भूमि अनुपजाऊ होने पर भी उसे अत्यंत उपजाऊ कहना ।

भूमि संबंधी झूठ के अन्तर्गत घर तथा अन्य स्थायी संपत्ति संबंधी झूठ भी समझ लेना चाहिए ।

iv) न्यासापहार :– किसी ने विश्वास रखकर आपके पास रकम अथवा कीमती वस्तुएँ अमानत के रूप में रखी हों, उस रकम आदि को वापस लौंटाने से इन्कार कर देना न्यासापहार नाम का असत्य है ।

जैसे–राम ने विश्वास में आकर दस हजार रुपये व दो कीलो चांदी अपने को अमानत रखने के लिए दीए । दो वर्ष के बाद वह अपनी अमानत लेने के लिए आया, तब उसे इन्कार कर देना, यह न्यासापहार दोष है ।

v) झूठी साक्षी :– किसी को मृत्यदण्ड मिले अथवा बहुत भारी नुकसान हो, ऐसी झूठी गवाही देना ।

इस प्रकार इस व्रत के अन्तर्गत इन पाँच असत्यों का त्याग किया जाता है । ध्यान रहे कि असत्य का त्याग आत्म–अहित के त्याग के लिए किया जाता है, अतः ऐसा झूठ जिसमें दूसरे प्राणी की रक्षा होती हो, वह झूठ भी सत्य कहलाता है और ऐसा सत्य जिससे दूसरे की मृत्यु अथवा अनर्थ होता हो, वह सत्य भी असत्य ही कहलाता है ।

3) स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत :– इस व्रत के अन्तर्गत स्थूल चोरी के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है । चोरी एक महापाप है । इसके आचरण से लोक में अपकीर्ति और परलोक में दुर्गति होती है । चोरी करनेवाला व्यक्ति सदा शंकाशील होता है, अतः श्रावक को चोरी का त्याग करना चाहिए ।

इस व्रत के अन्तर्गत–

1) किसी के मकान का ताला तोड़कर चोरी करना ।

2) मालिक की सहमति बिना ही उसकी वस्तु उठा लेना ।

3) राजकीय चोरी करना ।

4) जेब काटना ।

5) राज्यविरुद्ध अन्य देश से व्यापार करना, आदि बड़ी चोरियों के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है ।

4) स्थूल मैथुन विरमणव्रत :– सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन यह आत्मा की उत्क्रांति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है । ब्रह्मचर्य से आत्मा की तेजस्विता बढती है । ब्रह्मचर्य की शक्ति अमाप है, परन्तु जो श्रावक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हैं, वे भी इस व्रत द्वारा स्वदारा–संतोष और परस्त्रीगमन के त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं ।

इस व्रत से श्रावक परस्त्रीगमन के त्याग की प्रतिज्ञा तो करता ही है, इसके साथ ही पर्व दिनों में तथा आराध्य तिथि के दिनों में स्वस्त्री के साथ भी मैथुन सेवन का त्याग करता है ।

इस प्रकार इस व्रत में परस्त्रीगमन के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है । इस व्रत के पालन से श्रावक का जीवन सदाचारी बनता है और विकार के त्यागमय जीवन से वह सात्त्विक आनंद की अनुभूति प्राप्त करता है ।

5) स्थूल परिग्रह विरमणव्रत :– सभी पापों की जड़ परिग्रह है । परिग्रह की तीव्र मूर्च्छा आत्मा से नाना प्रकार के पाप कराती है ।

परिग्रह अर्थात् धन आदि जड़ पदार्थों के स्वामित्व में तीव्र आसक्ति । इस परिग्रह संज्ञा के कारण व्यक्ति इस लोक में अत्यन्त कृपण और क्रूर बनता है, जिससे इस लोक में चारों ओर अपकीर्ति होती है और परलोक में आत्मा की दुर्गति होती है ।

इस व्रत द्वारा श्रावक अपने परिग्रह की मर्यादा कर लेता है अर्थात् अमुक धन से अधिक धन मैं नहीं रखूंगा ।

परिग्रह की मर्यादा दो प्रकार से करनी चाहिए–

i) स्थावर अथवा अचल संपत्ति :– इस संपत्ति के अन्तर्गत मकान, खेत, जमीन, दुकान, बाग–बगीचा आदि की मर्यादा करनी चाहिए अर्थात् अमुक मकान से अधिक मकान नहीं रखूंगा, इत्यादि ।

ii) जंगम अथवा चल संपत्ति :– सोना, चांदी, जवाहरात, गहने, बर्तन तथा रोकड़ रुपये चल संपत्ति कहलाते हैं । इनका भी परिमाण निश्चित कर लेना चाहिए ।

महाव्रतों के विशुद्ध पालन हेतु आवश्यक भावनाएँ

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।।7–3।।

सामान्य अर्थ :– महाव्रतों की स्थिरता हेतु प्रत्येक महाव्रत की पाँच–पाँच भावनाएँ हैं ।

विवेचन :– साधुजीवन के जो पाँच महाव्रत हैं, उन महाव्रतों की स्थिरता एवं पुष्टि के लिए प्रत्येक महाव्रत की पाँच–पाँच भावनाएँ हैं । इनके चिंतन से महाव्रतों के पालन में दृढ़ता आती है । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

पहले महाव्रत की पाँच भावनाएँ–

1) मनोगुप्ति :– आर्तध्यान और रौद्रध्यान से मन को बचाना अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं करना, समताभाव में लीन रहना तथा आत्मस्वरूप के चिंतन में मग्न बनना, उसे मनोगुप्ति कहते हैं। उस मनोगुप्ति के चिंतन व पालन से पहले महाव्रत से आत्मा भावित बनती है।

2) एषणा समिति :– दोषित भिक्षाग्रहण में पहले महाव्रत की विराधना है, जबकि निर्दोष भिक्षाग्रहण से पहले महाव्रत को पुष्टि मिलती है।

3) ईर्या समिति :– ईर्यासमिति अर्थात् चलते समय जीवरक्षा का ख्याल रखना। ईर्यासमिति के पालन से भी पहले महाव्रत को पुष्टि मिलती है।

4) आदान भंडमत्त निक्षेपण समिति :– किसी भी वस्तु को रखते समय व उठाते समय प्रमार्जन करना उसे आदानभंडमत्तनिक्षेपण समिति कहते हैं। इस समिति के पालन से भी पहले महाव्रत को पुष्टि मिलती है।

5) देखकर अन्न–जल ग्रहण करना :– आहार–पानी देखकर लेना और वापरते (खाते) समय आहार–पानी को देखकर फिर वापरना (खाना)।

इन पाँच भावनाओं से सर्वथा प्राणातिपात महाव्रत को पुष्टि मिलती है।

दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ–

1) हास्य त्याग :– हँसी–मजाक में भी व्यक्ति झूठ बोल देता है, अतः हास्य का त्याग करने से व्यक्ति झूठ से बच सकता है।

2) लोभ त्याग :– लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति झूठ बोल देता है अतः झूठ से बचने के लिए लोभ का त्याग करना चाहिए।

3) भय त्याग :– डर के कारण भी व्यक्ति झूठ का आश्रय लेता है, अतः झूठ से बचने के लिए भय का त्याग करना चाहिए।

4) क्रोध त्याग :– आवेश में आकर व्यक्ति झूठ का आश्रय लेता है, अतः झूठ से बचने के लिए क्रोध का त्याग करना चाहिए ।

5) विचारपूर्वक बोलना :– जो व्यक्ति सोच–समझकर बोलता हो, वह असत्य उच्चारण से बच सकता है ।

इस प्रकार इन पाँच भावनाओं से आत्मा को भावित करने पर हम अपने दूसरे महाव्रत का संरक्षण कर सकते हैं ।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ–

1) अनुवीचि अवग्रह याचना :– साधु को जहाँ स्थिरता करनी हो, उस जगह के मालिक को वहाँ स्थिरता करने हेतु अनुवीचि अर्थात् विचारपूर्वक अनुमति लेकर ही उस स्थान में स्थिरता करनी चाहिए । यदि अनुमति लिये बिना स्थिरता करे तो अदत्तादान का दोष लगता है ।

2) बार–बार अवग्रह याचना :– रोग आदि के प्रसंग में भिन्न–भिन्न जगह का भिन्न–भिन्न प्रकार से उपयोग करना पड़े, तब बस्ती के मालिक के पास पुनः पुनः याचना करनी चाहिए ।

3) अवग्रह अवधारण :– स्वाध्याय, ध्यान, गोचरी आदि के लिए जितने स्थान की आवश्यकता हो, उतने ही स्थान के अवग्रह की याचना करनी चाहिए ।

4) साधर्मिक अवग्रह याचना :– बस्ती में पहले से रहे हुए साधर्मिक (साधु या साध्वीजी) के पास अवग्रह की याचना कर, फिर उस बस्ती में प्रवेश करना चाहिए ।

5) अनुज्ञापित भक्त-पान :- स्वयं लायी हुई निर्दोष भिक्षा आदि भी गुरू की आज्ञा प्राप्त करके ही उपयोग करना चाहिए ।

चौथे महाव्रत की पाँच भावनाएँ–

1) स्त्री–पशु–नपुंसक वसति वर्जन :– ब्रह्मचारी साधु को स्त्री–नपुंसक की बस्ती में तथा साध्वी को पुरुष व नपुंसक की बस्ती में नहीं रहना चाहिए । साधु को स्त्री के आसन पर और साध्वी को पुरुष के आसन पर नहीं बैठना चाहिए ।

जिस दीवार या पर्दे के पीछे दंपती रहते हों और उनके शब्द सुनाई देते हों, उस स्थान पर ब्रह्मचारी साधु–साध्वी को नहीं रहना चाहिए । यह पहली भावना है ।

2) राग संयुक्त स्त्रीकथा वर्जन :– स्त्रियों के साथ रागपूर्वक बातचीत नहीं करना तथा स्त्रीकथा का त्याग करना चाहिए, यह दूसरी भावना है ।

3) पूर्वक्रीड़ा स्मरण वर्जन :– संयमजीवन के स्वीकार के पूर्व जो काम–क्रीड़ा की हो उसे याद नहीं करना चाहिए, यह तीसरी भावना है ।

4) मनोहर इन्द्रिय अवलोकन वर्जन :– स्त्रियों के मनोहर अंगोपांग, लावण्य व रूप आदि को विकारभरी नजर से नहीं देखना चाहिए, यह चौथी भावना है ।

5) प्रणीतरस भोजन वर्जन :– अति स्वादिष्ट प्रणीत आहार और अति आहार (भूख से ज्यादा आहार) का त्याग करना चाहिए, यह पाँचवीं भावना है ।

इन पाँच भावनाओं में ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ (गुप्तियों) का समावेश हो जाता है ।

पाँचवें महाव्रत की पाँच भावनाएँ–

1) स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल स्पर्श पर राग नहीं करना और प्रतिकूल स्पर्श पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

2) रसनेन्द्रिय के अनुकूल रस पर राग नहीं करना चाहिए और प्रतिकूल विषय पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

3) घ्राणेन्द्रिय के अनुकूल विषय-सुगंध पर राग नहीं करना चाहिए और प्रतिकूल विषय-दुर्गंध पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

4) चक्षु इन्द्रिय के अनुकूल रूप पर राग नहीं करना चाहिए और प्रतिकूल विषय पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

5) कर्णेन्द्रिय के अनुकूल शब्द पर राग नहीं करना चाहिए और प्रतिकूल शब्द पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

महाव्रतों में स्थिरता हेतु सभी व्रतों में सामान्य प्रथम भावना

हिंसादिष्विहाऽमुत्र चाऽपायावद्यदर्शनम् ।।7-4।।

सामान्य अर्थ :– हिंसा आदि पापों से बचने के लिए इस जन्म में होने वाली अनर्थ की परंपरा और परलोक में होने वाले करुण विपाक देखने चाहिए ।

विवेचन :– पाप का प्रवेश सबसे पहले मन में होता है । यदि मन में पापकर्म के कटु विपाक का चिंतन किया जाय तो पाप करने की तीव्र इच्छा शांत हो जाती है, अतः पापकर्म की निवृत्ति के लिए सबसे पहले पाप के इसलोक और परलोक में होने वाले कटु विपाक का चिंतन करना चाहिए ।

हिंसा का कटु फल–

इसलोक में–हिंसा की प्रवृत्ति करनेवाला व्यक्ति सदा उद्विग्न रहता है । उसका सुख लुप्त हो जाता है । प्राणियों की हिंसा से उसका मन अत्यंत ही क्रूर बन जाता है, जिससे उसके जीवनव्यवहार पर खूब असर पड़ता है । वह अपने परिवार जन आदि संपर्क में आने वाले सभी को भी उद्वेग पैदा करता है । शिकार आदि लोकनिन्द्य एवं राज्य प्रतिषिद्ध कार्य करने से वध–बंधन, भूख–प्यास, ठंडी–गर्मी आदि अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।

परलोक में–हिंसा करने से व्यक्ति वैर की परंपरा का सर्जन करता है, जिससे इस जन्म में किये पापाचरण की सजा उसे अनेक जन्मों तक दुःखी करती है । आत्मा की दुर्गति होती है और पंगु, कोढ़ी, लूला–लंगडापन, पाँच इन्द्रियों की हानि आदि की भयंकर सजा होती है । इस जन्म में की गई थोड़ी सी मजा के फलस्वरूप नरकादि दुर्गतियों में लाखों-करोड़ों वर्षों तक दुःख सहन करने पड़ते हैं । जैसे- कालसौरिक कसाई, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि ।

जैसा व्यवहार हम अन्य के साथ करते हैं, वैसा ही व्यवहार कर्म सत्ता हमारे साथ करती है ।

असत्य वचन का कटु फल–

इसलोक में–जिस प्रकार अपथ्य भोजन से रोगनाश के बजाय रोग की अभिवृद्धि होती है, उसी प्रकार असत्य वचन से कलह, क्लेश, अशांति बढ़ती है। जो अप्रिय, अहितकारी और असत्य वचन बोलता है, उसके वैर–विरोध बढ़ते हैं, समाज में उसकी प्रतिष्ठा गिर जाती है और वह सर्वत्र अविश्वास का पात्र बन जाता है। सभी लोग उसकी निंदा करते हैं।

परलोक में–असत्य वचन बोलनेवाला व्यक्ति मरकर निगोद, तिर्यंच और नरक गति में पैदा होता है। अनेक भवों तक उसे कटुविपाक के रूप में गूंगापन, जीभ के रोग आदि कष्ट सहन करने पड़ते हैं। जैसे उत्सूत्र भाषण से मरीचि के एक कोटाकोटी सागरोपम संसार की वृद्धि हुई। जमालि सम्यक्त्व से भ्रष्ट बना और वसु राजा मरकर नरक में गया।

अदत्तादान (चोरी) का कटु फल–

इसलोक में–चोरी करने वाले को राजा की ओर से घोर सजा होती है, गधे के ऊपर बिठाकर, काला मुँह करके उसे नगर में घुमाया जाता है, चारों ओर उसकी निंदा होती है। सभी लोगों के लिए वह तिरस्कार का पात्र बनता है। उसे देशनिकाल एवं फाँसी की सजा भुगतनी पड़ती है।

परलोक में–चोरी करने वाले को परलोक में नरक–तिर्यंच आदि दुर्गति में जाना पड़ता है। चोरी के फलस्वरूप दुर्भाग्य, दासत्व, दरिद्रता और अपंगता आदि दुःख भोगने पड़ते हैं।

मैथुन का कटु फल–

इसलोक में–मैथुन सेवन में भयंकर जीवहिंसा होती है। सम्बोध प्रकरण में कहा है–``**स्त्रियों की योनि में उत्कृष्ट से नौ लाख गर्भज मनुष्य, असंख्यात बेइन्द्रिय जीव और असंख्यात संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होकर मर जाते हैं।''** एक बार मैथुन का सेवन करने पर पुनः

पुनः उस पाप की इच्छा जागृत होती रहती है । जब तक इच्छा–पूर्ति न हो तब तक बेचैनी रहती है । इच्छापूर्ति के लिए व्यक्ति परस्त्रीगमन की ओर आकर्षित होता है, जिससे वध, बंधन, कैद, फाँसी, धन–नाश, गुप्तेन्द्रिय-छेद आदि दुष्परिणाम सहन करने पड़ते हैं ।

परलोक में–दुराचारी पुरुष मरकर नपुंसक, कुरूप, दुर्भागी, भगंदर आदि रोगों से ग्रस्त बनता है और दुराचारिणी स्त्री आगामी भव में विधवा, वंध्या, मृतपुत्र प्रसवा, विषकन्या आदि बनती है । नरकगति में भयंकर पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं ।

किंपाक के फलभोग की तरह मैथुनसेवन प्रारंभ में मधुर लगता है, परंतु विपाक में अत्यंत ही दारुण है ।

परिग्रह का कटु फल–

इसलोक में–परिग्रह का मुख्य कारण लोभवृत्ति है । लोभी व्यक्ति को चाहे जितना धन प्राप्त हो जाय, वह कभी तृप्त नहीं होता । अधिक–से-अधिक धन पाने के लिए वह दिन–रात मेहनत करता रहता है । वह हिंसा करने में भी नहीं हिचकिचाता । अवसर आने पर झूठ बोल देता है और चोरी भी कर लेता है ।

परिग्रह एक ऐसा ग्रह है, जो कभी राशि नहीं बदलता है । तीनों जगत् के लोग परिग्रह के कुग्रह से विडंबित हैं ।

परलोक में–परिग्रह रौद्रध्यान का मूल है । अत्यंत परिग्रही व्यक्ति संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान के अधीन बनकर अपने हाथों से भावी दुर्गति का सर्जन करता है । उदा. मम्मण शेठ ।

सभी व्रतों में सामान्य दूसरी भावना

दुःखमेव वा ।।7-5।।

सामान्य अर्थ :– हिंसा आदि पाँच पाप दुःख रूप ही हैं ।

विवेचन :– पूर्व सूत्र में हिंसा आदि पाँच पापों के इस लोक और परलोक में होने वाले कटु विपाक बताए । यह सूचित करता है कि पाप का विपाक

दुःखदायक है । प्रस्तुत सूत्र में हिंसा आदि पापों को दुःख रूप बताया है । अर्थात् हिंसा आदि पापाचरण करना दुःखरूप है ।

हिंसा आदि पापाचरण न सिर्फ अन्य को दुःखदायी होता है बल्कि स्वयं को भी दुःख का ही अनुभव कराता है । जैसे स्वयं को सुख प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवों को भी सुख प्रिय है । जो सभी जीवों को आत्मतुल्य मानता है, वह अन्य को कैसे दुःखी कर सकता है ?

1. हिंसा करते समय व्यक्ति को अत्यंत क्रूर और निर्दय बनना पड़ता है । इन दुर्भावों से हिंसक व्यक्ति का रक्तचाप बढ़ जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, आदि अनेक प्रत्यक्ष दुःख हिंसक को हिंसा करते समय प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं ।

2. असत्य बोलने में व्यक्ति को खूब सोच–विचार करना पडता है । एक असत्य छिपाने के लिए अनेक असत्यों का सहारा लेना पड़ता है, ऐसे प्रत्यक्ष दुःख स्पष्ट रूप से अनुभव होते हैं ।

3. चोरी करनेवाला हमेशा भयभीत और शंकाशील रहता है । उसके हृदय में सदैव भय रहता है । वह कभी स्वस्थतापूर्वक सो नहीं सकता, तो जीवन के अन्य सुखों का अनुभव तो कैसे कर पाएगा ?

4. मैथुनसेवन आदि पाँच इन्द्रियों के सुख खुजली के रोग के समान हैं । जिस तरह खुजली के रोगी को, खुजली खुजलाते हुए क्षणिक सुख का अनुभव होता है, परंतु जैसे–जैसे खुजलाते जाए, वैसे–वैसे वह खुजली बढ़ती जाती है, उसी तरह मैथुनसेवन की इच्छा कभी भी तृप्त नहीं होती है । कदाचित् अल्पकालीन सुख का अनुभव हो तो भी अतृप्ति, निर्बलता, वीर्यनाश एवं परलोक में दुर्गति के कटु विपाक सुखदायी कैसे हो सकते हैं !

5. परिग्रह की मूर्च्छा के कारण सदा असंतोष एवं धन के रक्षण की चिंता बनी रहती है । धन का नाश हो जाने पर असह्य दुःख का ही अनुभव होता है ।

इस तरह प्रत्येक पापाचरण के कटु विपाक एवं वर्तमान दुःख को नजर सामने रखने से इन पापाचरण की इच्छा का अंत आता है और पाप से बचने की जागृति बनी रहती है ।

व्रतों की स्थिरता हेतु मैत्री आदि चार भावनाएँ

मैत्री–प्रमोद–कारुण्य–माध्यस्थ्यानि–सत्त्वगुणाधिक–क्लिश्यमाना–ऽविनयेषु ।।7-6।।

सामान्य अर्थ :– मैत्री भावना, प्रमोद भावना, करुणा भावना और माध्यस्थ्य भावना क्रमशः सभी जीवों के प्रति, गुणाधिक जीवों के प्रति, दुःखी जीवों के प्रति और अविनीत जीवों के प्रति रखनी चाहिए ।

विवेचन :– मैत्री अर्थात् पर–हित–चिन्तन । प्रमोद अर्थात् गुण का पक्षपात । करुणा अर्थात् दुःखी के दुःख को दूर करने की इच्छा । माध्यस्थ्य अर्थात् दुष्टबुद्धि वालों की उपेक्षा ।

ये चारों भावनाएँ जीव सम्बन्धी हैं । इस संसार में जो अनन्तानन्त आत्माएँ हैं, उन आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में कौन–सी भावना होनी चाहिए, उस भावना का स्वरूप बताते हैं–

1) मैत्री भावना :– यह मैत्री भावना जगत् में रहे हुए समस्त प्राणियों के प्रति रखने की है । चाहे वह जीव एकेन्द्रिय अवस्था में हो, चाहे बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय अवस्था में हो । वह जीव सूक्ष्म हो या बादर हो, पर्याप्त हो या अपर्याप्त हो, त्रस हो या स्थावर हो । मनुष्य हो या तिर्यंच हो, देव हो या नारक हो । व्यवहारराशि वाला हो या अव्यवहारराशि वाला हो, उन सब जीवों के प्रति हमारे हृदय में मैत्री भावना होनी चाहिए ।

जीवत्व के प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी अन्तरंग साधना में बाधक है, जब तक इस संसार में एक भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव रहेगा, तब तक आत्मा की मुक्ति होने वाली नहीं है ।

इसीलिए तो दोनों संध्या–प्रतिक्रमण करते समय **'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ'** पाठ बोला जाता है ।

1) मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है ।

2) किसी के साथ वैर नहीं है ।

मैत्री भावना का स्वरूप है–परहित–चिन्तन । इस भावना के द्वारा जगत् के सर्व जीवों के हित की कामना की जाती है ।

2) प्रमोद भावना :– इस दुनिया में कई जीव अपने से अधिक गुणवान हैं । ऐसी गुणवन्त आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में प्रमोद/बहुमान का भाव होना चाहिए । गुणवान आत्माओं के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखकर सम्मान का भाव रखना चाहिए ।

गुणवान आत्माओं के गुणों के प्रति पक्षपात रखने से उन आत्माओं में रहे हुए गुण हमें भी प्राप्त होते हैं ।

जिस वृत्ति/प्रवृत्ति के प्रति हमारे हृदय में आदर–बहुमान का भाव होता है वह वृत्ति/प्रवृत्ति धीरे–धीरे हमारे जीवन में आ जाती है । आज तक मोहाधीनता के कारण हमने संसार के सुख के राग व द्वेष को ही अच्छा माना है, अतः वही वृत्ति हमारे जीवन में घर कर गई है, अब उस वृत्ति के बजाय गुणीजनों के गुणों के प्रति बहुमान/आदर भाव को जागृत करना है और इस हेतु प्रमोद भावना से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए ।

3) करुणा भावना :– इस संसार में अनेक जीवात्माएँ दुःख-दर्द से पीड़ित हैं, उन दुःखी जीवों के दुःखनिवारण के लिए हमारे हृदय में करुणा भावना होनी चाहिए । दुःखी के प्रति करुणा रखने से हमारा हृदय आर्द्र/कोमल बनता है । कोमलहृदयी आत्मा ही जीवदया/अहिंसा, क्षमा आदि धर्मों का पालन कर सकती है, जिसका हृदय कठोर व निर्दय है, वह आत्मा अहिंसादि धर्मों की आराधना नहीं कर सकती है । अतः हृदय को कोमल बनाये रखने के लिए उसे करुणा भावना से भावित करना चाहिए ।

4) माध्यस्थ्य भावना :– तीव्र पापोदय के कारण कई आत्माओं को धर्म के प्रति रुचि नहीं होती है । वे अत्यन्त निर्दय, क्रूर और कठोर होती हैं, उनको धर्मोपदेश देना सांप को दूध पिलाने समान होता है ।

अतः ऐसी पापात्माएँ जिनको धर्मोपदेश देना व्यर्थ है, उनके प्रति अपने हृदय में माध्यस्थ्य भावना होनी चाहिए । ऐसी पापी आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में द्वेष भाव नहीं आना चाहिए, बल्कि उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव धारण करना चाहिए ।

संवेग और वैराग्य की पुष्टि हेतु अन्य भावना

जगत्काय-स्वभावौ च संवेग-वैराग्यार्थम् ।।7-7।।

सामान्य अर्थ :– संवेग भाव और वैराग्य की पुष्टि के लिए संसार और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए ।

विवेचन :– यदि मन संवेग और वैराग्य से भावित हो तो महाव्रतों का पालन कठिन नहीं है अतः मन को संवेग और वैराग्य से भावित करने हेतु संसार और शरीर के स्वरूप का चिंतन करना चाहिए ।

संवेग अर्थात् संसार में परिभ्रमण का खेद । जिसे संसार में हो रहे परिभ्रमण का खेद लगता है , उसे संसार की वृद्धि करानेवाले सभी कार्यों से डर लगता है । उसे आरंभ–समारंभ और परिग्रह की वृद्धि में दोषदर्शन के कारण अप्रीति होती है एवं संसार से मुक्ति करानेवाले धर्मानुष्ठान और उसका आचरण करनेवाले धर्मीजनों पर बहुमान भाव होता है ।

वैराग्य अर्थात् शारीरिक भोग सामग्री और संसार परिभ्रमण के खेद के कारण बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह के प्रति अनासक्त भाव ।

संसार के स्वरूप का विचार

यह संसार अनादि–अनंत है । संसार का स्वरूप ही दुःखमय है । इस संसार में आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनि में भटकती रहती है । इस संसार में सभी संबंध और स्थिति अनित्य है–देव मरकर

मनुष्य और तिर्यंच बनता है, मनुष्य मरकर नरक और तिर्यंच गति में चला जाता है। माता मरकर पुत्री बनती है, पिता मरकर पुत्र बनता है। धनहीन भी धनवान बनता है। राजा भी रंक बनता है। संसार की यही विचित्रता है कि यहाँ आत्मा एक स्थिति में नहीं रहती है। यह संसार दुःखों की खान है, जहाँ आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि और उपाधि के भयंकर कष्ट सहन करती रहती है।

जिस प्रकार अँगूठे को चूसने से बालक को दूध की प्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार संसार में जीव को कहीं भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

शरीर के स्वरूप का विचार

शरीर के प्रति रहे ममत्व भाव को दूर करने के लिए आत्मा को अशुचि भावना से भावित करना चाहिए। **'यह मेरा शरीर अशुचि से भरा हुआ है। इसे कितना भी पुष्ट किया जाय, इसका स्वभाव नश्वर होने से एक दिन अवश्य नष्ट होने वाला है।'** इस प्रकार चिंतन करने से देह पर रहा राग भाव टिक नहीं सकता है।

जिस प्रकार कपूर के बीच रहने पर भी लहसुन की दुर्गंध दूर नहीं होती है, उसी प्रकार इस शरीर को चाहे जितनी बार नहलाएँ, कितनी भी प्रसाधन सामग्री से सजाया जाय, फिर भी यह अपने अशुचि स्वभाव को छोडने वाला नहीं है।

कचरेपट्टी में सुगंध की कल्पना करना बेकार है, वैसे ही इस शरीर में सुगंध की कल्पना करना बेकार है।

संयम की साधना में शरीर और उपकरण सहायक हैं, अतः साधु इनका रक्षण जरूर करते हैं परंतु इनके प्रति भी आसक्ति न हो इसलिए सावधान रहते हैं।

हिंसा का स्वरूप

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।।7–8।।

सामान्य अर्थ :–प्रमाद के योग से प्राणों का वियोग हिंसा है ।

विवेचन :– प्रमाद के योग से प्राणों का वियोग करना हिंसा है । संसारी जीवों के कुल 10 प्राण होते हैं–

1) स्पर्शनेन्द्रिय 2) रसनेन्द्रिय 3) घ्राणेन्द्रिय 4) चक्षुरिन्द्रिय 5) श्रोत्रेन्द्रिय 6) मनोबल 7) वचन बल 8) काय बल 9) श्वासोच्छ्वास 10) आयुष्य ।

❀ **एकेन्द्रिय** (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप चार प्राण होते हैं ।

❀ **द्वीन्द्रिय** (कृमि, शंख, छीप आदि) जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय, वचन बल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप छह प्राण होते हैं ।

❀ **त्रीन्द्रिय** (चींटी, मकोड़ा, काष्ठ के कीड़े आदि) जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, वचन बल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप सात प्राण होते हैं ।

❀ **चतुरिन्द्रिय** (भ्रमर, मक्खी, मच्छर, बिच्छु, पतंगा आदि) जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, वचन बल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप आठ प्राण होते हैं ।

❀ **असंज्ञी पंचेन्द्रिय** (मन रहित संमूर्च्छिम मनुष्य आदि) जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य रूप 9 प्राण होते हैं ।

❀ **संज्ञी पंचेन्द्रिय** (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक) जीवों के समस्त दस प्राण होते हैं ।

प्रमाद में वशीभूत होकर इन प्राणियों के प्राणों का नाश करना हिंसा है ।

हिंसा में मुख्य कारण प्रमाद है । उस प्रमाद के पाँच भेद हैं–

1) मद्य :– नशीली वस्तु, मादक पदार्थ, शराब आदि का सेवन करना ।

2) विषय :– पाँच इन्द्रियों के विषय–स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द का सेवन करना ।

3) कषाय :– क्रोध, मान, माया और लोभ का आचरण करना ।

4) निद्रा :– अनावश्यक सोते रहना प्रमाद है ।

5) विकथा :– स्त्रीकथा (स्त्री सम्बन्धी बातचीत), भक्त कथा (भोजन सम्बन्धी बातचीत), राजकथा (राजा सम्बन्धी बातचीत) और देशकथा (देश–विदेश क्षेत्र सम्बन्धी बातचीत) ।

इन पाँच प्रकार के प्रमादों के आचरण से आत्मा हिंसा में प्रवृत्त होती है ।

(1) हिंसा के तीन प्रकार

1) कायिक हिंसा :– काया से किसी जीव को दुःख देना, पीड़ा पहुँचाना कायिक हिंसा कहलाती है ।

2) वाचिक हिंसा :– किसी को कर्णकटु और पीड़ाकारी वचन कहना, जैसे–**'तू मर जा...तू पापी है...तू मर जाये तो हमें शांति होगी'** इत्यादि वाचिक हिंसा है ।

3) मानसिक हिंसा :– किसी को दुःख देने के लिए मन में विचार करना, यह मानसिक हिंसा है ।

हिंसा के दो प्रकार

1) द्रव्य हिंसा :– किसी जीव के द्रव्य प्राणों का नाश करना, किसी को मार डालना आदि द्रव्य हिंसा है ।

2) भाव हिंसा :– आत्मा के ज्ञान आदि गुण भाव–प्राण कहलाते हैं । जिस क्रिया–प्रवृत्ति से आत्मा के भाव–प्राणों का नाश हो, वह भाव–हिंसा कहलाती है अथवा किसी प्राणी को मार डालने का अध्यवसाय भावहिंसा कहलाती है । जहाँ दूसरे जीवों को मार डालने का अध्यवसाय होता है, वहाँ स्वयं के आत्म–गुणों का भी घात अवश्य होता है ।

द्रव्य और भाव हिंसा के त्रि–भंग

1) द्रव्य से हिंसा, भाव से हिंसा नहीं :– दूसरे जीव को मार

डालने/खत्म करने का अध्यवसाय न हो, फिर भी अनजान में किसी जीव की हिंसा हो जाय तो वह मात्र द्रव्य हिंसा है ।

प्रमाद का त्याग होने पर भी अनजाने में हिंसा हो जाय...ऐसे अप्रमत्त मुनियों को भावरहित द्रव्य हिंसा होती है । इस हिंसा में पाप कर्म का अत्यल्प बंध होता है ।

2) भाव से हिंसा किन्तु द्रव्य से हिंसा नहीं :– वाणी और काया से किसी जीव को मारने की प्रवृत्ति नहीं होने पर भी किसी जीव को खत्म करने के अध्यवसाय को भाव हिंसा कहते हैं ।

अन्धकार में डोरी को साँप समझकर साँप को मारने की बुद्धि से कोई तलवार से प्रहार करता है, तो वहाँ भाव हिंसा है । द्रव्य हिंसा का अभाव होने पर भी इस प्रकार की हिंसा से भयंकर पाप कर्म का बंध होता है ।

महामत्स्य की पलकों में पैदा होनेवाला तंदुल मत्स्य हिंसा के मलिन अध्यवसाय के कारण 7 वीं नरक प्रायोग्य आयुष्य कर्म का बंध करता है और 7 वीं नरक में चला जाता है ।

3) द्रव्य सहित भाव–हिंसा :– किसी को मारने के रौद्र परिणाम हों और उसके साथ उस जीव को मारने की प्रवृत्ति भी हो, उसे द्रव्य सहित भाव हिंसा कहते हैं ।

अयतना भी हिंसा है–किसी जीव को बचाने का अध्यवसाय न हो और इस प्रकार उपेक्षापूर्वक गमनागमन किया जाय तो उस समय किसी जीव की हिंसा न होने पर भी हिंसा का पाप लगता है ।

हिंसा के अन्य तीन प्रकार

1) हेतु हिंसा :– जीव की हिंसा नहीं हुई हो, किन्तु जीवरक्षा के अध्यवसाय का अभाव हो, उसे हेतु हिंसा कहते हैं ।

2) स्वरूप हिंसा :– जीवरक्षा का प्रयत्न होने पर भी जो हिंसा हो जाती है, उसे स्वरूप हिंसा कहते हैं ।

3) अनुबन्ध हिंसा :– जीवरक्षा का अध्यवसाय न हो और जीव की हिंसा भी रही हो, उसे अनुबन्ध हिंसा कहते हैं ।

असत्य का स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ।।7-9।।

सामान्य अर्थ :– अयथार्थ बोलना अनृत (असत्य) है ।

विवेचन :– प्रमाद के वशीभूत होकर जो असत्य/झूठ बोला जाता है, उसे मृषावाद कहते हैं ।

मृषावाद के तीन प्रकार हैं–

1) सद्भाव प्रतिषेध :– सद्भाव–प्रतिषेध के दो भेद हैं–

(अ) भूतनिह्नव :– जो घटना जिस प्रकार बनी हो...उसके स्वरूप को छिपाना भूतनिह्नव है । जैसे–कोई व्यक्ति अपने पास वस्तु माँगने आया हो तब वस्तु होने पर भी **'यह वस्तु मेरे पास नहीं है'** इस प्रकार कहना **'भूतनिह्नव'** है ।

(ब) अभूतोद्भावन :– जो घटना जिस रूप में नहीं बनी हो, उसे उस रूप में कहना–अभूतोद्भावन है । जैसे–**'किसी के पास वह वस्तु नहीं होने पर भी 'उसके पास वह वस्तु है'** कहना अभूतोद्भावन है ।

2) अर्थान्तर :– वस्तु का जो स्वरूप हो, उसके स्वरूप को कुछ बदलकर, कम–ज्यादा कहना अर्थान्तर कहलाता है । किसी को 5 मीटर कपड़ा उधार दिया हो, परंतु कुछ दिनों बाद कहना **'मैने तुझे 7 मीटर कपड़ा दिया है ।'** इत्यादि ।

3) गर्हा :– सत्य बोलने पर भी अत्यन्त कठोरता से कटु वचन बोलना असत्य है ।

जिस वचन से हिंसा होती हो अथवा हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो, ऐसा सत्य वचन भी असत्य ही है ।

असत्य वचन के चार हेतु बताए हैं, अर्थात् व्यक्ति चार कारणों से सत्य को छोड़कर असत्य वचन बोलता है ।

1) क्रोध :– जब व्यक्ति क्रोध के अधीन बन जाता है, तब उसके

विवेक चक्षु पर आवरण आ जाता है । क्रोधान्ध व्यक्ति विवेक से भ्रष्ट बनता है, उसके हिताहित के निर्णय की शक्ति चली जाती है और वह असत्य बोलता है ।

2) लोभ :– लोभान्ध व्यक्ति लोभ के अधीन बनकर झूठ बोलता है । व्यापार आदि में **'यदि मैं झूठ बोलूंगा तो मुझे अधिक मुनाफा होगा'** इस प्रकार विचार कर व्यक्ति झूठ बोलने के लिए तैयार हो जाता है ।

3) भय :– भय संज्ञा से ग्रस्त व्यक्ति सत्य को छोडकर असत्य बोलता है ।

4) हास्य :– हास्य और व्यंग्य में भी व्यक्ति सत्य को छोडकर झूठ बोल देता है ।

चोरी का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ।।7–10।।

सामान्य अर्थ :– अन्य के द्वारा नहीं दी हुई वस्तु को बिना आज्ञा से ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है ।

विवेचन :– प्रमाद के वशीभूत होकर किसी के द्वारा नहीं दी गई वस्तु को ग्रहण करना चोरी है ।

अदत्त=नहीं दी गई ।

आदान=ग्रहण करना ।

वस्तु के मालिक ने यदि हमें वस्तु प्रदान नहीं की हो और हम उसकी अनुमति के बिना । चोरी की बुद्धि से वस्तु उठा लेते हैं, ग्रहण कर लेते हैं तो वह चोरी कहलाती है ।

अदत्तादान के चार भेद हैं–

1) स्वामी–अदत्त :– जिस वस्तु का जो मालिक हो उसको **'पूछे बिना ही वस्तु ग्रहण करना, स्वामी–अदत्त है ।'** छोटी-से-छोटी वस्तु को ग्रहण करने के पूर्व उसके स्वामी की अनुमति आवश्यक है, अन्यथा चोरी का दोष लगता है ।

2) जीव–अदत्त :– मालिक ने अनुमति दे दी हो परंतु सचित्त वस्तु में रहे जीव ने हमें अनुमति नहीं दी है । किसी भी जीव को दु:ख पीड़ा पसन्द नहीं है । मालिक द्वारा दी गई सचित्त वस्तु में जो जीव है, उसकी अनुमति नहीं होने से सचित्त वस्तु का भक्षण करना जीव अदत्त है । महाव्रतधारक साधु के लिए इसी कारण सचित्त पदार्थ का ग्रहण अकल्प्य है ।

3) तीर्थंकर–अदत्त :– दाता वस्तु देने के लिए तैयार हो और वह वस्तु जीव रहित भी हो...फिर भी उस वस्तु को ग्रहण करने के पूर्व यह सोचना चाहिए कि इस संदर्भ में तीर्थंकर की आज्ञा क्या है ? तीर्थंकर की आज्ञा से निषिद्ध होने पर भी उस वस्तु को दाता के पास से दाता की अनुमति से ग्रहण किया हो, तो भी उसमें तीर्थंकर–अदत्त का दोष लगता है ।

जैसे–किसी व्यक्ति ने साधु के निमित्त से रसोई बनाई । वह व्यक्ति वह अचित्त भोजन साधु को बहोराने के लिए साधु को आमन्त्रण देता है; उस समय साधु भगवन्त को पता लग जाय कि यह गोचरी आधाकर्मी है, ऐसा जानते हुए भी निष्कारण वह भोजन बहोरे तो उन्हें तीर्थंकर अदत्त दोष लगता है ।

4) गुरु–अदत्त :– स्वामी की आज्ञा हो, अचित्त भोजन हो और तीर्थंकर की आज्ञा से अविरुद्ध आहार बहोर कर लाया हो, परंतु गुरु की आज्ञा न हो और शिष्य वह आहार ले तो उसे गुरु–अदत्त दोष लगता है ।

गुरुदेव की आज्ञा से शिष्य गोचरी के लिए जाते हैं और तीर्थंकर की आज्ञानुसार बयालीस दोष से रहित गोचरी बहोरकर लाते हैं, फिर भी उस गोचरी पर गुरु का अधिकार होने से, उनकी आज्ञा के बिना, वस्तु का उपयोग करे तो गुरु–अदत्त दोष लगता है ।

श्रावक के लिए इन चार प्रकार के अदत्त में से मात्र स्वामी अदत्त का ही त्याग संभव है, जब कि साधु के लिए चारों प्रकार के अदत्त का त्याग जरूरी होता है ।

अब्रह्म का स्वरूप

मैथुनमब्रह्म ।।7–11।।

सामान्य अर्थ :– मैथुन-सेवन अब्रह्म है ।

विवेचन :– अब्रह्म का सेवन मैथुन कहलाता है । विषयसेवन, भोग–तृष्णा आदि उसी के पर्याय हैं । अनादिकाल से आत्मा वासनाओं की गुलाम बनी हुई है । मैथुन संज्ञा की पराधीनता के कारण आत्मा इस संसार में अनेकानेक यातनाओं को भोग रही है ।

राम और रावण के भयंकर युद्ध में मुख्य कारण रावण की कामवासना थी । **कामान्ध व्यक्ति विवेक से भ्रष्ट बन जाता है, उसकी दीर्घदर्शिता नष्ट हो जाती है ।** सीता के रूप पर मोहित बने रावण ने सीता का हरण किया । जटायु, हनुमानजी तथा विभीषण आदि ने रावण को बहुत समझाया, परंतु रावण ने अपना हठाग्रह नहीं छोड़ा । अंत में इस हठाग्रह के कारण भयंकर युद्ध खेला गया, जिसमें करोड़ों व्यक्ति मारे गये और अंत में रावण को मौत का शिकार बनना पड़ा ।

सामान्यतया नारक जीवों में भय–संज्ञा, तिर्यंचों में आहार संज्ञा, देवों में लोभ संज्ञा तथा मानव में मैथुन संज्ञा की प्रबलता होती है । इतना होने पर भी इच्छापूर्वक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य–पालन की ताकत मानव में है । मानव इन अन्तरंग शत्रुओं का संहार करने में समर्थ है ।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, आत्मा के स्वरूप में रमण करना । आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है । आत्मा के स्वभाव में वही व्यक्ति रमण कर सकता है, जिसने बाह्य पदार्थों का त्याग किया हो । आत्मा स्वयं अनन्त सुखमय है, परंतु स्वभाव की अज्ञानता, मोह की पराधीनता तथा अनादि की वासनाओं के जोर के कारण व्यक्ति, विषय–वासनाओं के क्षणिक सुख में लुब्ध हो जाता है ।

यदि आत्मबल हो तो विषयसेवन का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए और मन–वचन–काया से विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना

चाहिए परंतु इतना सामर्थ्य न हो, तो पर–नारी–सहोदर तो अवश्य बनना चाहिए अर्थात् अन्य की स्त्री में मातृत्व अथवा बहन का भाव रखना चाहिए और यथाशक्य ब्रह्मचर्यपालन में तत्पर बनना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य–पालन से शरीर पुष्ट बनता है, मानसिक शांति का अनुभव होता है और आत्मिक गुणों का भी विकास होता है परंतु जो व्यक्ति सम्पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकें, उन्हें भी चाहिए कि वे अपनी वासनाओं को नियन्त्रित रखें । रूप के राग ने आज तक अनेकों का जीवन बर्बाद किया है । इसी पाप के कारण युवकों का सत्त्व धूल में मिल रहा है । वासनाओं के शिकार बने होने के कारण आज के युवकों की सृजनशक्ति समाप्त होती जा रही है ।

किसी ने ठीक ही कहा है, **'जो रूप का गुलाम है, वह विश्व का गुलाम है ।'** मात्र रूप से आकर्षित होनेवाले में दीर्घदृष्टि का अभाव होता है और उसके कारण उसे बाद में पछताना पड़ता है । सारांश यह है कि आप कामविजेता न बन सकें, तो भी कामान्ध तो कभी नहीं बनना चाहिए ।

आँख से अन्धा अच्छा है, परंतु काम से अन्धा अत्यन्त भयंकर है । क्योंकि कामान्ध व्यक्ति अपने विवेक को खो बैठता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे अनेकानेक आपत्तियों का भोग बनना पड़ता है ।

अब्रह्म का सेवन मैथुन कहलाता है । वेदोदय से स्त्री–पुरुष के संयोग से होने वाली कामचेष्टा मैथुन कहलाती है ।

मैथुनसेवन में भयंकर हिंसा रही हुई है । **'सम्बोध प्रकरण'** में कहा है–**'स्त्रियों की योनि में उत्कृष्ट से नव लाख गर्भज मनुष्य उत्पन्न होते हैं । उनमें से प्रायः एक दो बच जाते हैं और शेष मर जाते हैं । स्त्रीयोनि में असंख्यात द्वीन्द्रिय जीव और असंख्यात संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं । मैथुनसेवन से उन जीवों का नाश होता है ।'**

परिग्रह का स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥7-12॥

सामान्य अर्थ :–जड़ और चेतन वस्तु पर मूर्च्छा, आसक्ति रखना परिग्रह है ।

विवेचन :– चेतन अथवा जड वस्तु के प्रति आसक्ति धारण करना परिग्रह कहलाता है । वस्तु का होना या न होना परिग्रह नहीं है, बल्कि वस्तु के प्रति आसक्ति भाव धारण करना ही परिग्रह है । परिग्रह का मूल लोभ है । जहाँ लोभ है, वहाँ सदैव असंतोष रहता है और उस असंतोष के कारण कितनी ही संपत्ति मिल जाय, फिर भी तृप्ति नहीं होती है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है, ***'लोभी मनुष्य को स्वर्ण के पर्वत की प्राप्ति हो जाए फिर भी उसे संतोष नहीं होता है, क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनंत हैं । जिस प्रकार आकाश का कोई अंत नजर नहीं आता है, उसी प्रकार इच्छाओं का भी कोई अंत नहीं है । ज्यों–ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों–त्यों लोभी का लोभ बढ़ता जाता है ।***

धन की प्राप्ति में लोभी बना व्यक्ति अनेक जीवों की हिंसा करने में भी नहीं हिचकिचाता है, वह अवसर आने पर झूठ बोल देता है और चोरी भी कर लेता है ।

लोभी व्यक्ति धन के लिए जमीन खोदता है, रात और दिन परिश्रम करता है, भयंकर जंगल और समुद्रों की यात्रा करता है ।

योगशास्त्र में कहा है–**'संसार का मूल आरम्भ है और आरम्भ का मूल परिग्रह है ।'** परिग्रह संज्ञा पर नियन्त्रण आ जाय तो व्यक्ति अनेक प्रकार के पापों से बच सकता है ।

दुनिया की कितनी भी सम्पत्ति मिल जाय, फिर भी आत्मा को तृप्ति नहीं होती है, अतः इस परिग्रह पर नियन्त्रण लाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जो आत्मा परिग्रह से सर्वथा मुक्त है, वह देवों के लिए भी वन्दनीय होती है । परिग्रहमुक्त आत्मा सर्वत्र विश्वसनीय होती है, लोक में सर्वत्र उसका आदर–सम्मान होता है ।

परिग्रह एक ऐसा ग्रह है जो कभी राशि की वक्रता का त्याग नहीं करता है । आश्चर्य है कि इस परिग्रह ने तीनों जगत् को विडम्बित किया है ।

बाह्य धन–धान्य, वस्त्र–पात्र का परिग्रह न होने पर भी जिसके दिल में धन आदि के प्रति आसक्ति रही है, उसके लिए समस्त जगत् परिग्रह रूप है और जो व्यक्ति आसक्ति से रहित है, वह व्यक्ति राज्य–सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी परिग्रह से मुक्त है ।

महाव्रत के पालन के लिए जो वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि का स्वीकार किया जाता है, वह परिग्रह नहीं है । यदि उसे भी परिग्रह मान लिया जाय तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं–

1) पात्र के अभाव में हाथ में भोजन करने से जो अन्न के कण नीचे गिर जाते हैं, उससे चींटी आदि आने से उन जीवों की विराधना होती है ।

2) पात्र के अभाव में बाल, वृद्ध, ग्लान आदि की भक्ति नहीं की जा सकती है ।

3) कम्बल आदि न रखने से काल–समय व वर्षाकाल में अप्काय आदि जीवों का रक्षण सम्भव नहीं है ।

4) संयम-रक्षा व मर्यादा-पालन के लिए वस्त्र आदि का परिधान न करने से लोक में जिनशासन की निन्दा होती है ।

अतः जो संयम के उपकरण हैं, वे परिग्रह रूप नहीं हैं । परंतु उपकरणों के प्रति आसक्ति आ जाय तो वे उपकरण भी अधिकरण स्वरूप बन जाने से परिग्रह स्वरूप बन जाते हैं । अतः भवभीरु आत्मा को धर्म के उपकरणों का उपयोग भी अनासक्त भाव से करना चाहिए ।

व्रती का स्वरूप

निःशल्यो व्रती ॥7-13॥

सामान्य अर्थ :– शल्य रहित अहिंसा आदि व्रत जिसे हो, वह व्रती कहलाता है ।

विवेचन :– पाँच महाव्रतों का स्वरूप एवं उनके पालन में त्याग करने योग्य हिंसा आदि का स्वरूप बताकर प्रस्तुत सूत्र में व्रती का स्वरूप बताते हैं ।

जो शल्यरहित होकर अहिंसा आदि व्रतों का पालन करता है वही **व्रती**–अर्थात् **व्रतधारी** कहलाता है । इससे स्पष्ट है कि मात्र व्रत स्वीकार करना पर्याप्त नहीं है, उन व्रतों का शल्यरहित पालन करना आवश्यक है । यदि व्रतों के साथ निःशल्यता न हो तो ऐसे व्रतों के स्वीकार की कोई कीमत नहीं है, उसे व्रती नहीं कहा जा सकता है । अतः निःशल्यता गुण को पाने तीन शल्यों का त्याग जरूरी है ।

शल्य अर्थात्–काँटा । मार्ग में चलते व्यक्ति के पैर में काँटा चुभ जाय तो उसकी गति धीमी पड जाती है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में विकास कर रही आत्मा में तीन प्रकार के भाव शल्य रह जाँय तो उसकी विकासयात्रा धीमी पड़ जाती है । भाव शल्य के तीन प्रकार हैं–

1) माया शल्य :– कपटपूर्वक धर्माराधना की प्रवृत्ति करना माया शल्य है । जिसके भीतर माया शल्य रहा हो वह अतिचारों का सेवन करने पर भी गुरु के समक्ष सरल हृदय से आलोचना नहीं करता है, जिससे अतिचार-शुद्धि के बिना उसकी आत्मा दुर्गति में चली जाती है अथवा हीन श्रेणी के देवों में जन्म पाती है ।

2) निदान शल्य :– देवता–चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि देखकर, इस जीवन में की गई आराधना–साधना के फलस्वरूप परलोक में देव, देवेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती बनने का संकल्प करना, उसे निदान शल्य कहते हैं । निदान करके एक बार तो आत्मा उस पदवी को प्राप्त कर लेती है परंतु उसमें आसक्ति के कारण वह दुर्गति के गर्त में गिर जाती है । आराधना रूपी चिन्तामणि रत्न को काच के टुकड़े के लिए हार जाती है ।

3) मिथ्यात्व शल्य :– वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और केवली-भाषित धर्म को छोड़कर मिथ्यात्वी देव को भगवान मानना, कंचन–कामिनी

के धारक को भी गुरु के रूप में स्वीकार करना और मिथ्याधर्म को धर्म के रूप में स्वीकार करना, उसे मिथ्यात्व शल्य कहते हैं । अठारह पापस्थानकों में मिथ्यात्व शल्य का त्याग खूब जरूरी है । यदि उसका त्याग न किया हो तो अन्य पापस्थानकों के त्याग की भी कीमत नहीं है । वैसा त्याग मोक्षप्रदायक नहीं बनता है ।

सुगंध बिना फूल की, दूध बिना गाय की, दया बिना धर्म की कीमत नहीं, वैसे ही शल्यत्याग के बिना व्रतों की कीमत नहीं है ।

व्रती के दो भेद

अगार्यनगारश्च ।।7-14।।

सामान्य अर्थ :– व्रती के मुख्य दो भेद हैं–अगारी और अनगार ।

विवेचन :– व्रतों का पालन करनेवाले व्रती के दो भेद हैं ।

1) अगारी :– अगार अर्थात् घर–संसार । जो घर संसार में रहकर अणुव्रतों का पालन करते हैं, उन्हें अगारी व्रती कहते हैं । अगारी व्रती को देशविरतिधर, श्रावक, श्रमणोपासक आदि कहा जाता है ।

2) अनगार :– जो घर–संसार के त्याग पूर्वक महाव्रतों का पालन करते हैं, उन्हें अनगार कहते हैं । अनगार व्रती को सर्वविरतिधर, श्रमण, मुनि, साधु, यति आदि कहा जाता है ।

अगारी व्रती का स्वरूप

अणुव्रतोऽगारी ।।7-15।।

सामान्य अर्थ :– अगारी व्रती को अणुव्रत होते हैं ।

विवेचन :– इसी अध्याय के दूसरे सूत्र में व्रतों के दो भेद –अणुव्रत और महाव्रत का स्वरूप बताया था । उनमें से जो अणुव्रतों का पालन करते हैं, वे अगारीव्रती होते हैं । इस व्याख्या से अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि जो महाव्रतों का पालन करते हैं, वे अनगार व्रती होते हैं । क्योंकि गृहवास में रहे अगारी व्रती के लिए महाव्रतों का पालन असंभव है ।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत का स्वरूप

दिग्-देशा-ऽनर्थदंडविरति-सामायिक-पौषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणा-ऽतिथि-संविभागव्रत-सम्पन्नश्च ।।7-16।।

सामान्य अर्थ :– अगारी व्रती को (पाँच अणुव्रतों के साथ) दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग–परिभोग–परिमाण और अतिथिसंविभाग ये सात व्रत भी होते हैं ।

विवेचन :– अगारी व्रती अर्थात् श्रावक जीवन के 5 अणुव्रतों के साथ, उन व्रतों में वृद्धि करने वाले अन्य सात व्रत भी होते हैं । जो इस प्रकार है–

6) दिग्विरतिव्रत/दिशापरिमाणव्रत :– मनुष्य हमेशा किसी एक क्षेत्रविशेष में रहता है, परंतु वह वाहन आदि के उपयोग द्वारा अन्य क्षेत्रों में भी जा सकता है । मनुष्य के गमनागमन का क्षेत्र जितना अधिक विशाल होता है, उतनी ही अधिक उसकी इच्छाएँ और वासनाएँ बढ़ती हैं ।

जैन शासन हमें वासना–निवृत्ति की प्रेरणा देता है, अतः इस व्रत के द्वारा श्रावक अपने गमनागमन के क्षेत्र का परिमाण करता है ।

दशों दिशाओं में गमन के क्षेत्र की मर्यादा का निर्धारण इस व्रत द्वारा किया जाता है । जैसे–पूर्व दिशा में 500 मील, उत्तर में 400 मील, दक्षिण में 600 मील, इत्यादि से अधिक दूर नहीं जाऊंगा ।

अथवा जीवन पर्यन्त भारत के बाहर नहीं जाऊंगा, इत्यादि ।

इस व्रत के पालन से मर्यादित दिशा के बाहर होने वाले हिंसा आदि पापों से श्रावक बच जाता है और लोभ–वृत्ति भी मर्यादित हो जाती है ।

7) देशविरति/देशावगासिक व्रत :– इस व्रत के अन्तर्गत छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण निश्चित किया गया, उसका पुनः संक्षेप किया जाता है ।

जैसे–छठे व्रत में दिशा में 1000 मील तक का परिमाण निश्चित किया था, आज हमें 500 मील जाने की ही जरूरत है तो उसका इस व्रत से संक्षेप किया जाता है ।

दिशा परिमाणव्रत की भाँति इस व्रत में पाँच अणुव्रत, भोगोपभोग तथा अनर्थदण्ड विरमण व्रत का भी संक्षेप किया जाता है ।

वर्तमान में दस सामायिक कर यह व्रत करने का प्रचार है । इस नियमानुसार **'वर्ष में अमुक देशावगासिक करूंगा'** इत्यादि प्रतिज्ञा की जाती है ।

8) अनर्थदण्डविरति व्रत :– पुण्य का फल सुख होता है और पाप का फल दुःख होता है । जगत् में प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, अतः सुख के इच्छुक को धर्म ही करना चाहिए । फिर भी गृहस्थ जीवन ऐसा है कि पाप न करने की इच्छा होने पर भी पाप से बच ही नहीं सकता है और इस पाप के फलरूप दुःख भोगना ही पड़ता है । ***जीवन निर्वाह के लिए जो पाप किए जाते है, वे अर्थ–दण्ड कहलाते हैं और जो पाप मात्र मौज–शौक के लिए किए जाते है वे सब पाप अनर्थदण्ड कहलाते हैं ।***

इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक अनर्थदण्ड के पापों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है ।

अनर्थदण्ड के चार प्रकार हैं–

(1) अपध्यान :– अपध्यान अर्थात् दुर्ध्यान । दूसरे के अहित का विचार करना । जैसे–**'वह व्यक्ति मर जाय तो अच्छा हो जाय ।' 'इस बार दुष्काल पड़े तो हमें अच्छी आय होगी ।' 'उस मकान में आग लग जाय तो मुझे फायदा हो जाएगा ।'** इस प्रकार के विचार

जो अशुभ ध्यान के पोषक हैं, अपध्यान कहलाते हैं । ऐसे विचारों से आत्मा व्यर्थ ही पापकर्मों का बन्ध करती है ।

(2) पापकर्म का उपदेश :– अपना कोई स्वार्थ न हो फिर भी दूसरे को पापप्रवृत्ति में जोड़ना । **'अरे ! तुम्हें तो युद्ध में जाना चाहिए ।' 'तुम यह कारखाना चलाओ, अच्छा रहेगा ।' 'तुम्हारी पुत्री बड़ी हो गई, उसका विवाह कर दो ।'**

इस प्रकार दूसरे को पापप्रवृत्ति में जोड़ने से उसके द्वारा किया गया सब पाप अपने को लगता है । अतः इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

(3) हिंसक साधन का अर्पण : हिंसा के साधन जैसे–तलवार, चाकू, हथियार, अग्नि, चक्की आदि । ये साधन दूसरों को देने से अपने को भी उसके द्वारा की गई हिंसा का पाप लगता है अतः हिंसा के साधन दूसरों को नहीं देने चाहिए ।

(4) प्रमाद–आचरण :– मौज–शौक की प्रवृत्तियाँ–जिनमें व्यर्थ ही भयंकर कर्म का बन्ध होता है । जैसे–नाटक,सिनेमा देखना, रेडियो Radio-T.V. के गीत सुनना, मल्लयुद्ध, क्रिकेट, नृत्य, सर्कस Circus आदि देखना, कुत्ते–मुर्गे आदि को परस्पर लड़ाना, स्त्रीकथा–राजकथा–देशकथा–भक्तकथा आदि विकथा करना, अनावश्यक बल्ब, पंखे आदि चालू रखना, भोजन के बर्तन खुले रखना, अखबार, उपन्यास, अश्लील पत्र–पत्रिकाएँ आदि पढ़ना ।

इस प्रकार इस व्रत में अपनी शक्ति के अनुसार अनावश्यक पापप्रवृत्तियों के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है ।

9) सामायिक व्रत :– सामायिक अर्थात् जिसमें समता की आय हो । अशुभ वृत्ति–प्रवृत्ति के त्याग बिना सामायिक की साधना सम्भव नहीं हैं । इस व्रत के द्वारा श्रावक प्रतिदिन अमुक सामायिक अथवा मास में या वर्ष में अमुक संख्या में सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता है । सामायिक

में श्रावक मन–वचन–काया से समस्त सावद्य प्रवृत्ति के करने–कराने के त्याग की प्रतिज्ञा करता है ।

सामायिक में रत्नत्रयी की आराधना–साधना होती है । इससे पापकर्मों की निर्जरा और पुण्यकर्म का बन्ध होता है ।

10) पौषधोपवास व्रत :– पौषधोपवास अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वतिथि के दिन उपवास आदि तप के साथ आहार, शरीरसत्कार, अब्रह्म तथा अन्य सभी पापव्यापारों के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है । शारीरिक अशक्ति होने पर जघन्य से एकाशन–आयंबिल कर के आहार का आंशिक त्याग भी किया जाता है ।

यह व्रत मात्र दिन का, मात्र रात्रि का अथवा दिन–रात दोनों का लिया जा सकता है । पौषध में दिन भर सामायिक की प्रतिज्ञा होती है । इस व्रत को ग्रहण करने वाले श्रावक को वर्ष भर में अमुक संख्या में पौषध करने का नियम होता है ।

पौषध–**'यह आत्मा को पुष्ट करने वाला औषध है ।'** इसके आचरण से संयमजीवन का प्रशिक्षण प्राप्त होता है ।

11) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत :– जिस वस्तु का उपयोग एक ही बार होता हो, वह उपभोग कहलाता है , जैसे–आहार, फूल आदि । एवं जिस वस्तु का उपभोग बार–बार किया जा सकता हो, वह परिभोग कहलाता है, जैसे स्त्री, आभूषण, वस्त्र आदि ।

इस व्रत को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(1) भोजन सम्बन्धी :– जीवन-निर्वाह के लिए हमें भोजन की आवश्यकता रहती है । भोजन का सर्वथा त्याग संसारी अवस्था में अशक्य है । अतः परमात्मा की आज्ञा है कि हमें भोजन करना पड़े तो कम–से–कम हिंसा वाली वस्तु का भोजन करना चाहिए ।

जिस भोजन में अत्यधिक हिंसा रही हुई हैं । वे हैं–22 अभक्ष्य और 32 अनंतकाय । इनके भक्षण से हमारी विचारशुद्धि भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि भोजन का असर हमारे मन पर भी पड़ता है । हिंसाजन्य भोजन करने से हमारा मन भी कलुषित और निर्दय बन जाता

है अतः मोक्ष की अभिलाषी आत्मा को इन पदार्थों का अवश्य त्याग करना चाहिए ।

इस व्रत के अन्तर्गत रात्रिभोजन का त्याग एवं भोग्य और उपभोग्य पदार्थों की मर्यादा के लिए प्रतिदिन सुबह–शाम चौदह नियम भी धारण किये जाते हैं । इन नियमों के धारण से श्रावक व्यर्थ के अनेक पापों से बच जाता है अतः प्रतिदिन इन नियमों को अवश्य धारण करना चाहिए ।

(2) व्यापार सम्बन्धी :– इसके अन्तर्गत पन्द्रह कर्मादान का यथाशक्य त्याग किया जाता है ।

श्रावक के लिये त्याग करने योग्य व्यवसाय

(1) अंगार कर्म :– भट्ठी, भड़भुंजा, सोनार, लोहार, ईंट, चुना, कोयला आदि को पकाने का व्यापार करना ।

(2) वन कर्म :– जंगल, सब्जी, पान, अनाज, लकड़ी आदि काटने–कटवाने का व्यापार करना ।

(3) शकट कर्म :– स्कुटर, मोटर, बस, रेल्वे, जहाज, विमान आदि वाहनों और उसके पहिएं आदि अंगो का निर्माण कार्य करना ।

(4) भाटक कर्म :– गाडी, घोडा, रेल्वे, मोटर आदि वाहनों को किराये पर उपलब्ध करवाने आदि का व्यवसाय करना ।

(5) स्फोटक कर्म :– कृषि भूमि, कुएँ, बोरिंग, जल प्रदाय आदि जमीन खोदने का व्यापार करना ।

(6) दंत वाणिज्य :– कस्तुरी, दांत, मोती, चमड़ी, हड्डियां सींग, बाल, पंख, ऊन, रेशम, रासायनिक खाद आदि त्रस प्राणियों की हिंसा कर उसके अंगोपांग से निर्मित वस्तुओं का व्यापर करना ।

(7) लक्ष वाणिज्य :– लाख, गोंद, खार, हडतालु, मनशील, रंग आदि का व्यापार करना ।

(8) रस वाणिज्य :– शहर, मांस, मक्खन, दूध, घी, तेल, नारियल, गुढ़, खजूर आदि का व्यापार करना ।

(9) विष वाणिज्य :– विष (अफीम तीव्र विष), हथोड़ा, बन्दुक, कारतुस, तीर, तलवार, भाला आदि शस्त्र तथा कुदाली, हल, पावड़ा मशीनरी, स्पेयर पार्ट्स आदि का व्यवसात करना ।

(10) केश वाणिज्य :– जीवित मनुष्य, गाय, बैल तिर्यंच आदि का व्यापार करना और इसी प्रकार उनके बाल (केश राशि), रुंगटे आदि से निर्मित वस्तुओं का व्यापार करना ।

(11) यंत्रपीलण कर्म :– मिल, करघा, चरखा, घट्टी (चक्की) घाणी और अनेक नये-नये औद्योगिक प्लान्ट एवं मशीनरी आदि चलाना ।

(12) निर्लांछन कर्म :– पशु–पक्षियों की पूंछ काटना, पीठ घीसना, डाम देना, बांझ, नपुंसक बनाना आदि पापजन्य कार्य स्वयं करना अथवा करवाना ।

(13) दवदान कर्म :– खेतों अथवा जंगलों में आग लगाना, अज्ञानता से पुण्य समझ कर जंगलों में दावाग्नि लगा देना, पॉवर हाऊस का संचालन करना आदि कार्यों में लिप्त होना ।

(14) जल शोषण कर्म :– कुएँ, तालाब, सरोवर आदि को खाली करवाना, संचित जल को सुखा देना, बांध का निर्माण करवाना, नहरें निकालवानी आदि कार्य करना ।

(15) असती पोषण कर्म :– मैना, तोता, कुत्ते, वेश्या आदि स्त्रियों का पोषण करना और उनके द्वारा धनोपार्जन करना, वेश्यालय आदि का धंधा चलाना ।

इस प्रकार इस व्रत के पालन से श्रावक अनेकविध पापों से बच जाता है ।

12) अतिथि संविभागव्रत :– तिथि आदि व्यवहार का त्याग करनेवाले अर्थात् सदा आराधना में लीन साधु भगवन्त ही सच्चे अतिथि कहलाते हैं ।

संविभाग अर्थात् उन साधु भगवन्तों को आहार–पानी–वस्त्र–शयन आदि प्रदान करना ।

रोग आदि में साधु–भगवन्त की सेवा–शुश्रूषा करना आदि अतिथि-संविभाग रूप है ।

न्याय से अर्जित धन से लायी हुई वस्तु को दान करते समय देश, काल, श्रद्धा, सत्कार, क्रम और कल्पनीय–इन छह बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए । इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1) देश :– हमारे क्षेत्र में कौनसी वस्तु सुलभ है और कौनसी वस्तु दुर्लभ ? ऐसा विचार कर जो दुर्लभ वस्तु हो वह पहले बहोरानी चाहिए ।

2) काल :– अभी कौनसी ऋतु है ? उस ऋतु के अनुकूल वस्तु बहोरानी चाहिए ।

3) श्रद्धा :– थोड़ी भी वस्तु अत्यंत भाव–भक्ति और श्रद्धापूर्वक बहोरानी चाहिए ।

4) सत्कार :– साधु भगवंत के आगमन पर वंदन–आसनप्रदान आदि के द्वारा योग्य सत्कार करना चाहिए ।

5) क्रम :– वस्तुओं के बहोराने में क्रम का ख्याल रखना चाहिए, सर्वप्रथम दुर्लभ और आवश्यक वस्तुएँ बहोरानी चाहिए ।

6) कल्पनीय :– साधु भगवंत को कल्प्य वस्तु ही बहोरानी चाहिए । अकल्प्य वस्तु बहोराने से दोष लगता है ।

साधु भगवंत गोचरी के 42 दोषों से रहित आहार ग्रहण करते हैं, अतः उनको दोष लगे ऐसे श्रावकजन्य 16 दोषों का सेवन श्रावक को नहीं करना चाहिए । ये दोष निम्नांकित हैं–

1) आधा कर्म दोष :– साधु के निमित्त आहार बनाना ।

2) औद्देशिक दोष :– किसी साधु को उद्देशित कर भोजन बनाना ।

3) पूति दोष :– अकल्प्य आहार के संसर्ग में रहा भोजन ।

4) मिश्रजात दोष :– कुटुंब तथा साधु दोनों के उद्देश्य से बनाया गया भोजन ।

5) स्थापना दोष :– साधु के लिए अलग रखा हुआ भोजन ।

6) प्राभृतिक दोष :– निजी स्वार्थ के कारण अमुक साधु को बहुमानपूर्वक वस्तु देना ।

7) प्रादुष्करण दोष :– अंधकार में से वस्तु को लाने के लिए दीपक Light आदि करना ।

8) क्रीत दोष :– साधु के लिए वस्तु खरीदना ।

9) प्रामित्यक दोष :– साधु के निमित्त उधार लाकर वस्तु बहोराना ।

10) परिवर्तित दोष :– साधु निमित्त वस्तु की अदला–बदली करना ।

11) अभ्याहृत दोष :– घर से उपाश्रय में लाकर वस्तु बहोराना ।

12) उद्‌भिन्न दोष :– बंद (Pack) डिब्बे को खोलकर बहोराना ।

13) मालापहृत :– दूसरी मंजिल से वस्तु लाकर बहोराना ।

14) आच्छिद्य :– अन्य से छीनकर प्राप्त वस्तु बहोराना ।

15) अनिःसृष्ट :– भागीदार की सहमति बिना भोजन बहोराना ।

16) अध्यवपूरक :– साधु का आगमन जानकर पाक में अभिवृद्धि करना ।

उपर्युक्त दोष गृहस्थजन्य हैं, अतः श्रावक को इन दोषों का त्याग करना चाहिए ।

वर्तमान में श्रावक अष्टप्रहरी पौषध कर, दूसरे दिन एकाशन करते हैं और मुनि भगवन्त को बहोराई हुई वस्तुओं का ही उपभोग कर अतिथि संविभाग व्रत करते हैं ।

ऐसे अतिथिसंविभाग वर्ष में अमुक संख्या में करने की प्रतिज्ञा इस व्रत में ली जाती है ।

संलेखना का स्वरूप

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ।।7-17।।

सामान्य अर्थ :– मरण के अंत में व्रती (श्रावक या साधु) संलेखना करता है ।

विवेचन :– जन्म के साथ मरण अनिवार्य है । इस संसार में अनादि काल से आत्मा जन्म–मरण के चक्र में फँसी हुई है । उस चक्र में से छूटने के लिए राग और द्वेष के बन्धनों को तोडना अनिवार्य है ।

मृत्यु के समय आत्मा को पुत्र–परिवार, धन–दौलत, तथा शरीर आदि का त्याग करना पड़ता है । परंतु अधिकांशतः त्याग हो जाने के बाद भी पुत्र–परिवार, धन आदि पर रही ममत्व बुद्धि इतनी प्रबल होती है कि आत्मा पुनः उसी के जाल में फँस जाती है, परंतु स्वेच्छा पूर्वक त्याग हो तो आत्मा भावी के अनंत जन्म–मरण के बंधन से मुक्त बन सकती है ।

मृत्यु के समय किसी भी प्रकार की ममता न रहे और आत्मा अत्यंत ही समाधिपूर्वक देह का त्याग कर सके, इसके लिए परमात्मा ने संलेखना की विधि बतलाई है । संलेखना में इच्छापूर्वक शरीर तथा कषायों का शोषण किया जाता है ।

उपवासादि तप के द्वारा आहार का धीरे–धीरे सर्वथा त्याग किया जाता है और सर्व जीवों से क्षमापना के माध्यम से क्रोध और मान कषाय का तथा समस्त भौतिक पदार्थों के प्रति रही हुई मूर्च्छा के त्याग द्वारा माया और लोभ कषाय का शोषण किया जाता है । कषाय ही संसारवृक्ष का मूल है, अतः उसका शोषण हो जाने से स्वतः ही संसार रूपी वृक्ष कमजोर हो जाता है ।

इस तरह शरीर और कषायों का शोषण करते हुए अंतिम समय में चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर, व्रतधारी आत्मा मन में जीवमैत्री एवं जड़विरक्ति के भाव द्वारा समाधिमरण प्राप्त करती है ।

व्रतों का स्वरूप बताकर अब इन व्रतों में संभावित अतिचारों का वर्णन करते हैं–

सम्यग्दर्शन के अतिचार

शङ्का-ऽऽकाङ्क्षा-विचिकित्सा-ऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।।7-18।।

सामान्य अर्थ :– शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव–ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

विवेचन :– व्रत स्वीकार करने के बाद उनमें जो कुछ भी दूषण लगते हैं, उन्हें अतिचार कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार–

1) शंका :– अपनी मतिमंदता के कारण सुदेव–सुगुरु और सुधर्म के विषय में तथा उनके स्वरूप में संदेह करना, आगमोक्त पदार्थों पर संशय करना इत्यादि। इसके दो भेद हैं–

i) सर्वशंका :– मूल वस्तु में शंका करना। जैसे देव–गुरु–धर्म का स्वरूप जैसा आगमों में बताया है, वैसा होगा या नहीं, इत्यादि।

ii) देशशंका :– मूल वस्तु में शंका न करना, परंतु उसके अंश में शंका करना। जैसे सुगुरु के वचन सत्य ही हैं, उसका क्या प्रमाण है ? इत्यादि।

2) आकांक्षा :– क्षमादि कुछ विशेषताओं को देखकर अन्य मिथ्यादृष्टि धर्म के प्रति आकर्षित होकर उस धर्म की इच्छा करना। अथवा, कांक्षा अर्थात् इच्छा करना। धर्म के फलस्वरूप इस लोक में राजा, चक्रवर्ती आदि पदवी की इच्छा करना और परलोक में देव–देवेन्द्र पद की इच्छा करना। संसार के सभी सुख, वास्तव में दुःखमूलक और दुःख के कारण हैं। धर्म की आराधना संसार के क्षय के लिए है, फिर भी इसके आचरण द्वारा भौतिक सुखों की इच्छा करने से सम्यग्दर्शन व्रत में अतिचार लगता है। इसके दो भेद हैं–

i) सर्वकांक्षा :– `सभी धर्म एक समान हैं इसलिए सभी धर्म अच्छे हैं।' इत्यादि सभी धर्मों की इच्छा सर्वकांक्षा है।

ii) देशकांक्षा :– किसी एक मिथ्या धर्म की इच्छा करना । जैसे- `बौद्ध धर्म में तप,त्याग आदि कष्ट सहन किये बिना धर्म करने का उपदेश दिया है, अतः वह धर्म श्रेष्ठ है ।' इत्यादि एक धर्म की इच्छा करना देशकांक्षा है ।

3) विचिकित्सा :– परमात्म–प्ररूपित धर्म के फल के विषय में सन्देह करना, उसमें झूठे तर्क आदि करना अथवा साधु–साध्वी के मलिन वस्त्र आदि देख उनसे घृणा करना, इत्यादि विचिकित्सा नाम का अतिचार है । जैसे दुनिया में खेती–व्यापार आदि करने पर भी कभी उसका फल मिलता है और कभी नहीं मिलता है, वैसे ही धर्म का फल प्राप्त होगा या नहीं ।

शंका और विचिकित्सा, दोनों में संशय रहा हुआ है, परंतु दोनों के संशय के विषय भिन्न हैं । शंका में संशय का विषय आगमशास्त्र में बताए गए पदार्थ हैं, जिसका कारण मति की मंदता है तथा विचिकित्सा में धर्म के फल का संदेह है ।

अथवा विचिकित्सा अर्थात् साधु-साध्वी के मलिन वस्त्र, शरीर आदि को देखकर जुगुप्सा–घृणा–दुर्भाव करना ।

4) अन्यदृष्टि प्रशंसा :– मिथ्यात्वी साधु–तापस आदि की प्रशंसा करना । इससे भी सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

5) अन्यदृष्टि संस्तव :– मिथ्यादृष्टि से गाढ़ परिचय करना, उनका सम्पर्क करना इत्यादि । इससे सम्यक्त्व मलिन होता है और सम्यक्त्व में अतिचार लगता है ।

सम्यक्त्व के अतिचार साधु और श्रावक दोनों को लगते हैं । इनमें से पहले तीन अतिचार मानसिक विषय के हैं, शेष दो कायिक विषय हैं ।

बारह व्रतों के अतिचारों की संख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।।7-19।।

सामान्य अर्थ :– पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों में प्रत्येक के यथाक्रम पाँच–पाँच अतिचार है ।

विवेचन :– श्रावक के बारह व्रतों में पहले पाँच अणुव्रतों को व्रत कहते हैं और सात व्रतों को शील कहते हैं। उनके क्रमशः पाँच पाँच अतिचार हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र की अपेक्षा बारह व्रतों के 60 अतिचार होते हैं।

प्रथम व्रत के पाँच अतिचार

बंध-वध-छविच्छेदा-ऽतिभारारोपणा-ऽन्नपाननिरोधाः ।।7-20।।

सामान्य अर्थ :– स्थूल प्राणातिपात विरमण अणुव्रत के–बंध, वध, चर्मविच्छेद, अतिभारारोपण, और अन्नपाननिरोध–ये पाँच अतिचार हैं।

विवेचन :– स्थूल प्राणातिपात विरमण अणुव्रत में श्रावक निष्कारण–निरपराध त्रस जीवों की, संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है। इस व्रत के पाँच अतिचार निम्न है–

1) बन्ध :– पशु को बाँधना। पशु को बाँधना भी पड़े तो श्रावक उन्हें तीव्र गाँठ देकर नहीं बाँधता है। पशु को पीड़ा हो, इस प्रकार बाँधने से व्रत में अतिचार लगता है।

2) वध :– वध का अर्थ है, पशु की निर्दयतापूर्वक ताड़ना–तर्जना करना। प्राणघात करने से तो व्रत का भंग ही होता है।

जहाँ तक संभव है, श्रावक पशु आदि नहीं रखता है, यदि रखे हों तो भी अनिवार्य प्रसंग में ही पशु को ताड़ना आदि करता है। ताड़ना करते समय इतना ख्याल रखता है कि उससे मर्मस्थल का वेधन न हो।

3) चर्मविच्छेद :– बैल–घोड़ा–ऊँट आदि के नाक–बींधना, अग्नि से डाम देना आदि करने से पशु को अत्यन्त पीड़ा होती है। अतः ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। पशु के रोग आदि के कारण उसका अंग–विच्छेद आदि करना पड़े तो भी उसमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए।

4) अतिभारारोपण :– बैल, घोड़ा आदि पशु को वाहन के रूप में तथा भार–वाहन के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है। यदि घर में पशु आदि रखे हों तो उन पर उनकी शक्ति से अधिक भार का

आरोपण नहीं करना चाहिए । अतिभार आरोपण करने से व्रत में अतिचार लगता है ।

5) अन्न–पान निरोध :– भोजन तो जीवन का आधार है । अपने आश्रित परिवार, नौकर, पशु आदि के भोजन का निरोध नहीं करना चाहिए । किसी को भूखा रखने से उस आत्मा को खूब पीड़ा होती है अतः किसी के भोजन में ज्यादा देरी अथवा बाधा नहीं करनी चाहिए । पशु आदि के भोजन में विलम्ब अथवा अन्तराय डालने से व्रत में अतिचार लगता है ।

उपर्युक्त अतिचारों के सेवन में अन्य प्राणी को पीड़ा पहुँचती है । उस पीड़ा को सहन करने की शक्ति न हो तो उस प्राणी की मृत्यु भी हो जाती है, कदाचित् मृत्यु न हो तो भी वह आत्मा आर्तध्यान में डूब जाती है । पर–पीड़ा में निमित्त बनने से स्वयं की अधोगति होती है ।

दयापालन तो धर्म का मुख्य आधार स्तम्भ है । शेष सभी अणुव्रत आदि का पालन भी इसी व्रत की पुष्टि के लिए किया जाता है ।

अप्रशस्त भाव और प्रमाद संग :– दूसरे का अहित करने के अशुभ अध्यवसाय से जो प्रवृत्ति की जाती है, वह आत्मा का अप्रशस्त भाव है । इस अप्रशस्त भाव से आत्मा क्लिष्ट कर्मों का बन्ध करती है ।

प्रमाद के संग से भी हिंसा आदि पाप–प्रवृत्ति होती है । वास्तव में प्रमाद ही भयंकर पाप है । प्रमाद से अयतना होती है और अयतना से हिंसा होती है । किसी भी व्रत को स्वीकार करने के बाद उस व्रत को मलिन करनेवाली प्रवृत्ति अनाभोग से , सहसात्कार से या सापेक्ष भाव से की हो तो व्रत में अतिचार लगता है, परंतु व्रत से निरपेक्ष बनकर जान-बूझकर व्रत से विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले का व्रत टिकता नहीं है, क्योंकि व्रत में सापेक्षता हो तभी तक अतिचार माना जाता है, व्रत में निरपेक्षता आ जाय तो व्रत भंग ही माना जाता है ।

दूसरे व्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार–साकारमंत्रभेदाः ।।7–21।।

सामान्य अर्थ :– स्थूल मृषावाद विरमण अणुव्रत के मिथ्या उपदेश, रहस्य अभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यास अपहार और साकारमंत्र-भेद– ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– स्थूल मृषावाद विरमण अणुव्रत में श्रावक (1) कन्या संबंधी (2) पशु संबंधी (3) भूमि संबंधी (4) न्यासापहार और (5) झूठी साक्षी में बोले जाने वाले पाँच महा झूठ के त्याग की प्रतिज्ञा करता है । इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नांकित है–

1) मिथ्या उपदेश :– किसी को मोक्षमार्ग के विपरीत झूठा उपदेश देना । हिंसा, झूठ, चोरी, आदि का उपदेश देना अर्थात् वैसी प्रवृत्ति सिखाना । इस प्रकार का झूठा उपदेश देने से वह आत्मा उन्मार्ग-गामी बनती है, जिसका सब पाप उपदेष्टा को लगता है, अतः कभी किसी को उन्मार्गगमन का उपदेश नहीं देना चाहिए ।

2) रहस्य–अभ्याख्यान :– एकांत में बैठकर कोई बात कर रहा हो, उसकी बात को सुने व समझे बिना ही उस पर झूठा आरोप लगा देना । जैसे–**'वे आपके विरुद्ध मंत्रणा कर रहे थे'** इत्यादि कह देना अथवा किसी की गुप्तमंत्रणा प्रकट करना, परस्पर लड़ाना इत्यादि । इस प्रवृत्ति से इस व्रत में अतिचार लगता है । चुगलखोरी की यह आदत अच्छी नहीं है । इस प्रकार की नारदवृत्ति से स्वच्छ व्यक्तित्व पर कालिमा छा जाती है अतः ऐसी वृत्ति का त्याग करना चाहिए ।

3) कूटलेखक्रिया :– धन आदि के लोभ में आकर नकली–झूठे दस्तावेज बनाना । न्यायालय में झूठी साक्षी देना । झूठे जमा–खर्च बताना, सच्चे लेख को बदल देना, मुहर–हस्ताक्षर आदि का दुरुपयोग

करके गलत दस्तावेज बनाना इत्यादि । यहाँ कोई ऐसा तर्क करे कि प्रतिज्ञा तो मात्र असत्य नहीं बोलने की है, असत्य लिखने की नहीं, परंतु यह तर्क नही, कुतर्क है, क्योंकि जो दोष असत्य बोलने से लगता है, वही दोष असत्य लिखने से भी होता है ।

4) न्यासापहार :– न्यास अर्थात् किसी व्यक्ति ने अपनी कुछ रकम हमें सँभालने के लिए अमानत के रूप में दी हो । उसे अपहार अर्थात् हड़प लेना । न्यास में ली हुई रकम को समय बीतने पर भूल जाना, लेने वाला आये तब उसे इन्कार करना, यदि कम माँगे तब उतना ही देना, शेष स्वयं हड़प लेना इत्यादि । वैसे तो न्यासापहार करना एक प्रकार से चोरी है, फिर भी उस चोरी को छिपाने के लिए असत्य मिश्रित वाक्य बोले जाते हैं, इसलिए इसे सत्यव्रत के अतिचार में रखा गया है ।

श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र (वंदित्तु) आदि अन्य ग्रंथों में न्यासापहार के स्थान पर सहसा अभ्याख्यान रूप अतिचार बताया गया है ।

सहसा–अभ्याख्यान :– बिना सोच–विचार कर बोलने से असत्य वचन की संभावना रहती है और उसके भयंकर परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं । किसी कवि की उक्ति है–

बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगाड़े आपनो, जग में हंसी कराय ।।

बिना सोचे–समझे ही किसी बात में **'हाँ'** भर देना, विरोध कर देना, निर्णय देना आदि सहसा अभ्याख्यान कहलाते हैं । इससे व्रत में अतिचार लगता है ।

जैसे–अभी कुछ निर्णय भी नहीं हुआ हो और कह देना **'हाँ'** तू ही चोर है । इत्यादि ।

इस प्रकार बोलने से कभी–कभी भारी नुकसान सहन करना पड़ता है अतः यह व्रत हमें सोच समझकर बोलने की प्रेरणा देता है ।

जो व्यक्ति कुछ भी कहने और बोलने के पूर्व सोचता है, उसके वचन में असत्यता की कम संभावना रहती है । बिना सोचे कह देने पर

बाद में बात बदलनी पड़ती है । सोचकर बोलने वाले का निर्णय पक्का होता है ।

5) साकारमंत्रभेद :– साकारमंत्र अर्थात् जो क्रिया आकार–इशारा, शरीर की आकृति से युक्त हो, ऐसी क्रिया से अन्य के अभिप्राय को जानना, उसे प्रकाशित करना–साकारमंत्रभेद है । इसका भावार्थ है कि–किसी के विश्वासपात्र बनकर उसकी चेष्टाविशेष को अथवा घटना और आस–पास के वातावरण को देखकर उसके हृदयगत भावों को जानकर, अन्य को कहना । इस तरह एक दूसरे के विश्वासपात्र बनकर उनकी गुप्त बातों को प्रकट कर के दोनों के बीच में प्रीति का विच्छेद करना–उनको झगड़ा करवाना, इत्यादि ।

अन्य ग्रंथ में साकारमंत्रभेद के स्थान पर स्व-दारा-मंत्रभेद रूप अतिचार बताया गया है ।

स्व-दारा-मंत्रभेद :– व्यक्ति हमेशा अपनी गुप्त बात विश्वसनीय व्यक्ति से ही करता है । स्त्री के लिए पति विश्वसनीय है । पति के लिए पत्नी विश्वास–पात्र है । विश्वास से अपनी गुप्त बात पत्नी ने कही हो, उसे अन्य किसी को कह देने से दूसरे व्रत में अतिचार दोष लगता है ।

गुप्त बात के प्रकटीकरण से उस व्यक्ति को बहुत बड़ा आघात लगता है । कई बार इस आघात से व्यक्ति आत्महत्या भी कर बैठता है । अतः कभी भी किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करना चाहिए ।

यदि उपर्युक्त प्रवृत्ति जानबूझकर की जाती है, तब तो व्रत का भंग ही होता है, परंतु अज्ञानवश ऐसी प्रवृत्ति हो तो वह अतिचार में आती है ।

तीसरे व्रत के अतिचार

स्तेनप्रयोग–तदाहृतादान–विरुद्धराज्यातिक्रम–हीनाधिकमानोन्मान–प्रतिरूपकव्यवहाराः ।।7-22।।

सामान्य अर्थ :– स्थूल अदत्तादान विरमण अणुव्रत के–स्तेनप्रयोग,

स्तेन द्वारा आहृत आदान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– स्थूल अदत्तादान विरमण अणुव्रत में श्रावक, स्वामी अदत्तादान का त्याग करता है । इस व्रत के अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है–

1) स्तेनप्रयोग :– चोरी करने वाले चोर को प्रोत्साहित करना । **'क्या बात है, आजकल बेकार कैसे बैठे हो ? कहीं अवसर नहीं मिला, जाओ ! उस बाजार में'** इत्यादि वचन द्वारा चोर को चोरी के लिए प्रेरित करना उसे स्तेनप्रयोग कहते हैं ।

2) स्तेन द्वारा आहृत आदान :– चोर द्वारा लाई हुई वस्तु ग्रहण करना । यदि यह पता चल जाय कि यह वस्तु चोरी करके लाई हुई है, तो उसे नहीं खरीदना चाहिए । जानबूझ कर सस्ती मानकर चोरी की हुई वस्तु खरीदने से व्रत का भंग होता है । अनजान अवस्था में चोरी की वस्तु खरीदने से व्रत में अतिचार लगता है ।

3) विरुद्ध राज्यातिक्रम :– राजा अथवा राज्य नायक की आज्ञा बिना शत्रु राजा के राज्य में जाकर व्यापार करना, गुप्त रूप से अन्य राज्य में प्रवेश करना, कर (Tax) चोरी आदि करना इत्यादि राज्य विरुद्ध कार्य हैं । ऐसे कार्य करने वाले को चोरी के रूप में दंड–या सजा भी हो सकती है । लोक में भी–**'यह चोर है'** ऐसा आरोप लग सकता है ।

4) हीनाधिक मानोन्मान :– व्यापार में लेन–देन की प्रवृत्ति में नकली माप–तोल का उपयोग करना । अधिक लेने की वृत्ति से अधिक वजन के माप करना और कम देने की वृत्ति से कम वजन के माप रखना । इस प्रकार की प्रवृत्ति भी एक प्रकार की चोरी है, फिर भी अज्ञानतावश हो जाय तो उसे अतिचार के रूप में गिना है ।

5) प्रतिरूपक व्यवहार :– ग्राहक को असली माल बताकर नकली माल देना । कीमती पदार्थ में सस्ते पदार्थ की मिलावट करना, इससे भी अदत्तादान व्रत में अतिचार लगता है ।

वैसे तो हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार–इन दोनों के कार्य द्वारा व्रतभंग होता है, फिर भी इन्हें व्यापार की कला मानकर इन कार्यों को करने में आंशिक व्रतभंग होने से अतिचार कहा है ।

चौथे व्रत के अतिचार

परविवाह–करणेत्वर–परिगृहीता–ऽपरिगृहीतागमना–ऽनङ्ग–क्रीडा–तीव्रकामाभिनिवेशाः ।।7–23।।

सामान्य अर्थ :– स्थूलमैथुन विरमण अणुव्रत में–परविवाहकरण, इत्वर परिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश–ये पाँच हैं ।

विवेचन :– मैथुन विरमण अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

ब्रह्मचर्य व्रत तो जगत् में दीपक समान है । ब्रह्मचर्य एक महान् तप है । ब्रह्मचर्य एक महान् साधना है, ब्रह्मचर्य एक महान् सिद्धि है । ब्रह्मचर्य पालन मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ उपाय है ।

ब्रह्मचर्य का स्थूल अर्थ है, मैथुन का सर्वथा त्याग ।

ब्रह्मचर्य का सूक्ष्म अर्थ है, ऐन्द्रिक विषयों के त्यागपूर्वक आत्मा के स्वरूप में मग्न बनना ।

परम पवित्र महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ व्रत कहा है । अन्य सब व्रतों में परमात्मा ने अपवाद बताये हैं, किन्तु यह व्रत निरपवाद है ।

ब्रह्मचर्य की महिमा अपरम्पार है । ब्रह्मचर्य–व्रतधारी को देव भी नमस्कार करते हैं । सुवर्ण के मन्दिर–निर्माण से भी अधिक पुण्य का उपार्जन एक ब्रह्मचारी करता है ।

इस व्रत की सुरक्षा के लिए परमात्मा ने 9 बाड़ (मर्यादाएं) बतलाई हैं, जिनका जीवन में यथाशक्य अवश्य पालन करना चाहिए ।

1) वसति :– स्त्री–पशु–नपुंसक की बस्ती का त्याग ।

2) कथा :– स्त्री सम्बन्धी कथा का त्याग ।

3) निषद्या :– स्त्री के आसन पर पुरुष को 48 मिनीट और पुरुष के आसन पर स्त्री को 3 प्रहर नहीं बैठना ।

4) इन्द्रिय :– स्त्री के अंगोपांग नहीं देखना ।

5) कुड्यन्तर :– दीवार के पीछे रहे दम्पति के वार्तालाप आदि नहीं सुनना ।

6) पूर्वक्रीड़ा :– पूर्व में की गई स्त्री सम्बन्धी क्रीड़ा को याद नहीं करना ।

7) प्रणीत आहार :– कामपोषक रसयुक्त आहार नहीं लेना ।

8) अति आहार :– भूख से ज्यादा भोजन नहीं लेना ।

9) विभूषा :– विजातीय को आकर्षित करे एसी वेशभूषा नहीं पहनना ।

उपर्युक्त 9 बाड़ों के पालन से इस व्रत का संरक्षण होता है ।

इस व्रत के निम्नांकित पाँच अतिचार हैं–

1) परविवाहकरण :– स्वयं की जिम्मेदारी न होने पर भी कन्यादान के फल की इच्छा या स्नेह के कारण दूसरे के पुत्र–पुत्री का विवाह कराना । स्वयं के पुत्र आदि का विवाह करना, यह तो सद्गृहस्थ का कर्तव्य हो सकता है, किन्तु स्वयं की जिम्मेदारी न होने पर भी अन्य के विवाह में प्रेरणा आदि करने से इस व्रत में अतिचार दोष लगता है । क्योंकि इस व्रत में परस्त्री के साथ मैथुन नहीं करने, नहीं कराने की प्रतिज्ञा है । परविवाह कराने में वैसे तो इस व्रत का भंग होता है, फिर भी ``मैं विवाह कराता हूँ, मैथुन नहीं ।'' इस प्रकार सापेक्षता होने से अतिचार दोष लगता है ।

2) इत्वर परिगृहीता गमन :– अल्प काल के लिए किसी के द्वारा ग्रहण की हुई वेश्या के साथ उस काल में वेश्यागमन करना–इत्वर परिगृहीतागमन रूप अतिचार है । क्योंकि जितने काल तक अन्य व्यक्ति ने वेश्या को पैसे देकर स्वीकार किया है, उस काल में वह वेश्या–परस्त्री है । इस व्रत के अन्तर्गत जिसने परस्त्रीगमन की प्रतिज्ञा को स्वीकार

किया है, उसके लिए वह वेश्या भी परस्त्री होने से वैसे तो व्रतभंग ही होता है, फिर भी **'मैं तो वेश्यागमन कर रहा हूँ–परस्त्रीगमन नहीं ।'** इस प्रकार व्रत की सापेक्षता होने से अतिचार दोष लगता है ।

अथवा–जिसने परस्त्रीगमन–वेश्यागमन की प्रतिज्ञा की हो, वह अल्प काल के लिए वेश्या को पैसे देकर अपनी स्त्री समझकर उसका भोग करे, तब भी वैसे तो व्रतभंग है, फिर भी उसे अल्पकालीन स्व–स्त्री समझकर भोग करे तो अतिचार दोष लगता है ।

3) अपरिगृहीता गमन :– परिगृहीता अर्थात् विवाहिता, अपरिगृहीता अर्थात्–अविवाहित, कुमारी कन्या के साथ गमन करना । जिसका पति मर गया हो, ऐसी विधवा, जिसका पति परदेश गया हो ऐसी प्रोषित भर्तृका, अनाथ स्त्री, वेश्या अपरिगृहीता कहलाती है, उसके साथ गमन करना अपरिगृहीता गमन है ।

व्यवहार में जो किसी की पत्नी हो वह परस्त्री मानी जाती है, परंतु जिसका कोई पति न हो वह परस्त्री नहीं मानी जाती ऐसा समझकर कोई कुमारी कन्या आदि से भोग करे तब वास्तव में तो व्रतभंग होता है, परंतु व्रत की सापेक्षता होने से अतिचार दोष लगता है ।

इत्वर परिगृहीता गमन और अपरिगृहीता गमन–अतिचार परस्त्री गमन की प्रतिज्ञा की अपेक्षा है, जबकि स्वदारासंतोष व्रत स्वीकार करने वाले की अपेक्षा व्रत का सर्वथा भंग है, क्योंकि उसके लिए, स्वस्त्री को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों के त्याग की प्रतिज्ञा है ।

स्त्री की अपेक्षा से–**'स्वपति संतोष'** का एक ही व्रत है इसलिए ऊपर कहे दोनों अतिचार सामान्य से नहीं होते, फिर भी जिसके पति की अनेक पत्नियाँ हों, और पति ने भोग हेतु क्रमशः बारी–बारी से एक-एक पत्नी का निर्णय किया हो, तब अन्य की बारी के दिन क्रम का उल्लंघन कर पति के साथ भोग करे तो इत्वर परिगृहीता गमन का अतिचार लगता है एवं पर-पुरुष को विकारभरी दृष्टि से देखकर आकर्षित हो तो अपरिगृहीत-गमन का अतिचार लगता है ।

4) अनंग क्रीड़ा :– अनंगक्रीड़ा अर्थात् कामोत्तेजक क्रीड़ा । काम को उत्पन्न करनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति अनंगक्रीड़ा कहलाती है । हास्य, व्यंग्य, चुम्बन, आलिंगन आदि अनेकविध प्रवृत्तियों से कामवृत्ति को उत्तेजना मिलती है अतः इससे भी व्रत में अतिचार लगता है ।

5) तीव्रकामाभिनिवेश :– वेद मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से मैथुन सेवन करना अथवा कामभोग के साधन–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द में तीव्र आसक्ति । पाँच इन्द्रियों के 23 विषयों को पाने के लिए प्रयत्नशील बनना इत्यादि ।

परस्त्रीगमन, वेश्यागमन और स्वदारासंतोष की प्रतिज्ञा वाले को अनंगक्रीड़ा एवं तीव्र कामाभिनिवेश का त्याग नहीं है, इस दृष्टि से व्रत का भंग नहीं होता है, परंतु इस व्रत का लक्ष्य कामशत्रु पर विजय पाना है, जबकि अनंगक्रीड़ा एवं तीव्रकामाभिनिवेश से कामभोग की इच्छा बढ़ती है, इसलिए इसे अतिचार रूप माना गया है ।

पाँचवे व्रत के अतिचार

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धनधान्य-दासी-दास कुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।7–24।।

सामान्य अर्थ :– स्थूल परिग्रह परिमाण अणुव्रत के–क्षेत्रवास्तु, हिरण्य–सुवर्ण, धन–धान्य, दासी–दास, कुप्य–इन पाँच के प्रमाण का अतिक्रम करना-ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– पाँचवें परिग्रह परिमाण अणुव्रत में श्रावक को अपने परिग्रह का परिमाण करना चाहिए । इसके निम्नांकित अतिचार हैं–

1) क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम :– क्षेत्र अर्थात् खेत, अरहट इत्यादि जहाँ पर खेती की जाती है । वास्तु अर्थात् रहने के मकान, दुकान, गाँव की जागीरदारी, गाँव की मालिकी इत्यादि । इनके विषय में जो परिग्रह का परिमाण किया हो उससे अधिक मात्रा में धारण करना क्षेत्र–वास्तु प्रमाणातिक्रम नाम का अतिचार है ।

2) हिरण्य–सुवर्ण–प्रमाणातिक्रम :– हिरण्य अर्थात् चाँदी । सुवर्ण अर्थात् सोना । यहाँ सोने और चाँदी के साथ रत्न, कीमती धातु, मणि, रंगीन पत्थर और नकद रकम का भी समावेश किया गया है । लोभ के कारण, इनके विषय में जो परिमाण किया हो, उससे अधिक मात्रा में धारण करना, यह हिरण्य–सुवर्ण–प्रमाणातिक्रम नाम का अतिचार है ।

3) धन–धान्य–प्रमाणातिक्रम :– धन के रूप में यहाँ पशुधन माना गया है । गाय, बैल, हाथी, घोडा, ऊँट आदि धन है तथा धान्य अर्थात् सभी प्रकार के अनाज, दलहन और तिलहन । इनके विषय में जो परिग्रह परिमाण किया हो, उससे अधिक मात्रा में धारण करना, यह धन–धान्य प्रमाणातिक्रम नाम का अतिचार है ।

4) दास–दासी प्रमाणातिक्रम :– दास–दासी से यहाँ पर द्विपद को ग्रहण किया है । स्त्री, नौकर, दास–दासी आदि मनुष्य एवं मोर, पोपट, आदि पक्षी का समावेश इसमें होता है । इनके विषय में जो परिग्रह परिमाण किया हो, उससे अधिक मात्रा में धारण करना, यह दास–दासी प्रमाणातिक्रम नाम का अतिचार है ।

5) कुप्य–प्रमाणातिक्रम :– कुप्य अर्थात् सोना–चाँदी के सिवाय अन्य अल्प कीमत के धातुओं से बने बर्तन, घर में उपयोगी लकडी, घास आदि सामग्री । इनके विषय में जो परिग्रह परिमाण किया हो, उससे अधिक मात्रा में धारण करना यह कुप्य–प्रमाणातिक्रम नाम का अतिचार है ।

वास्तव में उपर्युक्त सभी के विषय में प्रमाणातिक्रम होने से व्रतभंग होता है परंतु योजन, प्रदान, बंधन, कारण और भाव–इन पाँच कार्यों से व्रतरक्षा के परिणाम के कारण व्रतभंग नहीं होने से अतिचार के रूप में कहा है । योजन आदि का स्वरूप इस प्रकार है–

(1) योजन :– योजन अर्थात् जोड़ना । एक मकान का परिग्रह परिमाण हो, तब आवश्यकता होने पर पास वाला मकान खरीद कर दो मकान को जोड़ना आदि ।

2) प्रदान :– प्रदान अर्थात् देना । धन–धान्य आदि सामग्री का जो परिमाण किया हो, उससे अधिक होने पर परिग्रह परिमाण की समय मर्यादा तक अन्य व्यक्ति को प्रदान करके, समयमर्यादा पूरी होने पर पुनः ग्रहण करना ।

3) बंधन :– बंधन अर्थात बांधना । प्रमाण से अधिक धन आदि प्राप्त होने पर, परिमाण की समय मर्यादा तक दाता के पास ही बाँधकर रखना एवं समय मर्यादा पूरी होने पर उसे ग्रहण करना ।

4) कारण :– कारण अर्थात् उत्पत्ति । पशुओं का परिमाण निश्चित करने के बाद उन्हें गर्भ रहे अथवा बछडा पैदा हो तब उन्हें परिमाणसंख्या न गिनना ।

5) भाव :– भाव अर्थात् परिवर्तन । कटोरी आदि के परिमाण से संख्या बढ़ने पर उन कटोरी आदि को पिघलाकर थाली आदि में परिवर्तित करना ।

इन सभी कार्यों में साक्षात् रूप से व्रतभंग होने पर भी व्रत की सापेक्षता के कारण अतिचार दोष लगता है ।

छठे व्रत में अतिचार

ऊर्ध्वा-ऽधस्तिर्यग्-व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तर्धानानि।।7-25।।

सामान्य अर्थ :– छठे दिग्विरति व्रत–ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग्–इन तीन दिशा के परिमाण में व्यतिक्रम होना, तथा क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– गृहस्थ जीवन में धनोपार्जन करने की लालसा से व्यक्ति दूर–सुदूर के क्षेत्र में गमनागमन करता है । गमनागमन के क्षेत्र की जीवन में मर्यादा न हो तो लोभ के वश होकर व्यक्ति धर्महीन प्रदेशों में भी गमनागमन कर व्यापार आदि कर लेता है । ज्यों–ज्यों व्यापार में सफलता मिलती है, त्यों–त्यों उस व्यापार को दूर क्षेत्र में बढ़ाने की इच्छा होती है । इस प्रकार दूर क्षेत्रों में गमनागमन करने से व्यक्ति को

उस क्षेत्र में रहे पदार्थों का भी आकर्षण होता है । इस आकर्षण के फलस्वरूप वह उन वस्तुओं को खरीद भी लेता है, इससे उन वस्तुओं का व्यर्थ ही ममत्व बढ़ता है ।

धन के लोभ से दूर–दूर के क्षेत्रों में जाने से व्यक्ति दैनिक धार्मिक प्रवृत्ति से भी वंचित रह जाता है ।

इस प्रकार जाने के क्षेत्र की मर्यादा न करने से अनेकविध नुकसान होते हैं । उन आध्यात्मिक नुकसानों से बचने के लिए जाने के क्षेत्र की मर्यादा अनिवार्य है ।

अतः श्रावक को दिग्–परिमाण अवश्य करना चाहिए । इस व्रत के पालन से मर्यादा–बाह्य क्षेत्रों में रहे पदार्थों की इच्छा नहीं होती है और वहाँ होनेवाले पाप के अनुमोदन से भी वह बच जाता है ।

इस व्रत के निम्नांकित 5 अतिचार हैं–

1) ऊर्ध्व व्यतिक्रमण :– ऊँचाई में जाने की जो मर्यादा की हो, उससे थोड़ा भी अधिक जाने पर इस व्रत में अतिचार लगता है ।

2) अधो व्यतिक्रमण :– भूमि की गहराई, कुएं आदि में नीचे जाने का जो प्रमाण तय किया हो उसका उल्लंघन करना ।

3) तिर्यग् व्यतिक्रमण :– चारों दिशाओं में सीधे गमन की जो मर्यादा की हो, उस मर्यादा का उल्लंघन कर अधिक क्षेत्र में जाना । इस व्रत के अन्तर्गत **'अमुक क्षेत्र के बाहर मैं नहीं जाऊंगा और दूसरों को नहीं भेजूंगा'** इस प्रकार का नियम हो तो मर्यादाबाह्य क्षेत्र में स्वयं को नहीं जाना चाहिए और दूसरे को भेजकर भी इष्ट वस्तु नहीं मँगानी चाहिए । यदि मात्र स्वयं के न जाने की ही मर्यादा की हो तो क्षेत्रबाह्य वस्तु दूसरे के द्वारा मँगाने से व्रतभंग नहीं होता है ।

4) क्षेत्र–वृद्धि :– चारों दिशाओं में गमन की जो मर्यादा की हो, उसमें एक दिशा से दूरी कम कर दूसरी दिशा में बढ़ाने से । उदा. चारों दिशाओं में 1000 कि.मी. की मर्यादा की हो, अब पूर्व–दिशा में 1250 कि.मी. जाना है, अतः पश्चिम दिशा में 250 कि.मी. कम कर उसे पूर्व दिशा में जोड़-देना, इस प्रकार करने से व्रत में अतिचार लगता है ।

5) स्मृत्यन्तर्धान :– स्मरणशक्ति की मंदता से दिशाओं के परिमाण को भूल जाना और मर्यादा–बाह्य क्षेत्र में गमन करना ।

सातवें व्रत के अतिचार

आनयन–प्रेष्यप्रयोग–शब्द–रूपानुपात–पुद्गलक्षेपाः ॥7–26॥

सामान्य अर्थ :– देशविरति (देशावगासिक) व्रत के आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– देशविरति (देशावगासिक) व्रत के अन्तर्गत छठे दिग्परिमाण गुणव्रत का संक्षिप्तीकरण किया जाता है । अथवा पूर्व के समस्त व्रतों का भी संक्षेप किया जाता है । सुबह और शाम इस व्रत के द्वारा भोग–उपभोग की वस्तुओं का भी संक्षेप किया जाता हैं ।

संक्षिप्त की हुई दिक् परिमाण की मर्यादा का भूल से उल्लंघन हो जाय तो इस व्रत में अतिचार लगता है । इस व्रत के निम्न लिखित पाँच अतिचार हैं–

1) आनयन प्रयोग :– इस व्रत के अन्तर्गत जो क्षेत्रमर्यादा तय की हो उसके बाह्य क्षेत्र में रही वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर, मँगाने पर इस व्रत में अतिचार लगता है । इस व्रत का उद्देश्य क्षेत्रगत हिंसादि पापों को मर्यादित करना है और मर्यादा का उल्लंघन दोष रूप है, अतः मर्यादाबाह्य क्षेत्र से वस्तु मँगाने से व्रत में अतिचार लगता है ।

2) प्रेष्य प्रयोग :– मर्यादाबाह्य क्षेत्र में रहे व्यक्ति अथवा वस्तु को मँगाने के लिए नौकर आदि को भेजना, इससे भी व्रत में अतिचार लगता है ।

3) शब्दानुपात :– मर्यादाबाह्य क्षेत्र में रहे व्यक्ति को बुलाने के लिए जोर से खाँसी करना, गले से आवाज करना इत्यादि ।

4) रूपानुपात :– दूसरे को अपना काम आ पड़ा हो, तो अपनी उपस्थिति बतलाने के लिए बाहर झाँकना, दीवार पर चढना इत्यादि ।

5) पुद्गल–क्षेप :– मर्यादाबाह्य क्षेत्र में रहे नौकर आदि को बुलाने के लिए कंकड़ आदि फेंकना ।

आठवें व्रत के अतिचार

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-ऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगाऽधिक-त्वानि ।।7-27।।

सामान्य अर्थ :– अनर्थदंडविरति व्रत के कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगाधिकत्व–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– अपने आश्रित कुटुम्ब–परिवार का पालन–पोषण करना यह श्रावक का कर्तव्य है । गृहस्थ यदि अपने आश्रितों का पालन–पोषण नहीं करेगा, तो वे आर्तध्यान में गिर जायेंगे, दु:खी हो जायेंगे और दुर्गति के मार्ग का अनुसरण कर लेंगे । इस प्रकार परिवार के पालन–पोषण की जिम्मेदारी के कारण गृहस्थ जो व्यापारादि करता है, ऐसी पापवाली प्रवृत्ति अर्थदण्ड कहलाती है और मात्र मौज–शौक से, समय व्यतीत करने के लिए जो पाप–प्रवृत्ति की जाती है, वह अनर्थदण्ड कहलाती है ।

अर्थदण्ड से अनर्थदण्ड की पापप्रवृत्ति अधिक भयंकर है । हास्य और विनोद में ऐसे क्लिष्ट कर्म का बन्ध हो जाता है, जिनको भोगे बिना छुटकारा नहीं होता ।

इस अनर्थदंड के चार भेद हैं (1) अपध्यान (2) पापोपदेश (3) हिंसा के साधन प्रदान करना (4) प्रमादाचरण ।

अनर्थदण्ड-विरमण व्रत में श्रावक इन पापकार्यों के त्याग की प्रतिज्ञा करता है ।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1) कंदर्प :– स्वयं को अथवा दूसरे को कामवासना उत्पन्न हो । जागृत वासना को प्रोत्साहन मिले ऐसा हास्य करना, अश्लील कथा कहना, अश्लील शब्दों का उच्चारण करना, ऐसी प्रवृत्ति से इस व्रत में अतिचार लगता है ।

2) कौत्कुच्य :– आँख, भृकुटि, नासिका, हाथ, पैर, मुँह आदि से विकार–गर्भित चेष्टा करना, जिससे अन्य में भी कामवासना जागृत हो, ऐसी प्रवृत्ति से भी अतिचार लगता है ।

3) मौखर्य :– असंबद्ध और असभ्य वाणी का उच्चारण करना, जैसे–तैसे बोलना आदि अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार हैं ।

4) अधिकरण :– हिंसा के साधनभूत पदार्थ मुशल, तलवार, चाकू, कैंची, धनुष, बाण, गाड़ा, कुल्हाड़ी आदि किसी को प्रदान करना भी अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार हैं ।

5) भोगातिरिक्त :– आवश्यकता से अधिक द्रव्यों का उपभोग करना । भोग्य पदार्थों की जो मर्यादा की हो, उससे अधिक का उपभोग करने से व्रत में अतिचार लगता है ।

नौवें व्रत के अतिचार

योगदुष्प्रणिधाना–ऽनादर–स्मृत्यनुपस्थापनानि ।।7–28।।

सामान्य अर्थ :– सामायिक व्रत के–मन, वचन, काया रूप तीन योगों का दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– श्रावक को नौवें व्रत के अन्तर्गत सामायिक में समता की साधना करनी होती है । राग और द्वेष से आत्मा ज्यों–ज्यों मुक्त बनती जाती है, त्यों–त्यों उसमें समत्व गुण प्रकट होता है । इस समत्व के फलस्वरूप आत्मा में सर्व जीवों के प्रति आत्मौपम्य (**आत्मवत् सर्वभूतेषु**) भाव प्रकट होता है । सुख और दुःख, इष्ट और अनिष्ट, अनुकूल और प्रतिकूल इन सर्व अवस्थाओं में मध्यस्थता पैदा होती है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा अति–अल्प कर्मों का बन्ध करती है और अत्यधिक कर्मों की निर्जरा करती है ।

इस व्रत के निम्न लिखित पाँच अतिचार हैं–

(1) मन से दुष्प्रणिधान :– सामायिक ग्रहण करने के बाद मन में दुकान, कुटुम्ब, परिवार आदि सम्बन्धी चिन्ता करने और किसी प्रकार

का दुर्ध्यान करने से सामायिक में अतिचार लगता है । सामायिक के मन के 10 दोष निम्नांकित हैं–

1) अविवेक दोष :–सामायिक में संसार सम्बन्धी विचार करना ।

2) यश:कीर्ति दोष :–सामायिक से लोक में यश:कीर्ति की इच्छा करना ।

3) लाभवांछा दोष :–सामायिक में धनादि लाभ का विचार करना ।

4) गर्व दोष :–मन में अभिमान करना ।

5) भय दोष :–भय युक्त होकर सामायिक करना ।

6) निदान दोष :–सामायिक में भौतिक फल की वांछा करना ।

7) संशय दोष :–सामायिक के फल में सन्देह करना ।

8) रोष दोष :–मन–ही–मन गुस्सा करना ।

9) अविनय दोष :–गुर्वादि के प्रति मन में अविनय रखना ।

10) अबहुमान दोष :–बिना बहुमान धारण किए सामायिक करना ।

इन दोषों के सेवन से सामायिक में अतिचार लगता है ।

(2) वचन से दुष्प्रणिधान :– सामायिक ग्रहण करने के बाद वाणी को संयम में न रखकर उसका दुरुपयोग करना । वचन के निम्नलिखित 10 दोष हैं–

1) कुवचन दोष :– सामायिक में कठोर व असत्य बोलना ।

2) सहसात्कार दोष :– बिना विचार किये बोलना ।

3) स्वच्छन्द दोष :– शास्त्रनिषिद्ध वचन बोलना ।

4) संक्षेप दोष :– सामायिक सूत्रों को संक्षिप्त कर बोलना ।

5) कलह दोष :– सामायिक में कलहकारी वचन बोलना ।

6) विकथा दोष :– सामायिक में विकथा करना ।

7) हास्य दोष :– सामायिक में हास्यास्पद बातें करना ।

8) अशुद्ध दोष :– सूत्रों का अशुद्ध उच्चारण करना ।

9) निरपेक्ष दोष :– अपेक्षा रहित वचन बोलना ।

10) मुणमुण दोष :– सूत्रपाठ में गड़बड़ करना ।

इन दोषों के सेवन से सामायिक में अतिचार लगता है ।

(3) काया से दुष्प्रणिधान :– सामायिक ग्रहण करने के बाद काया से दुष्प्रवृत्ति करना । सामायिक में काया के निम्निलिखित 12 दोष हैं–

1) अयोग्य आसन दोष :– सामायिक में अयोग्य आसन में बैठना ।

2) अस्थिरासन दोष :– अस्थिर आसन में बैठना ।

3) चलदृष्टि दोष :– चपल नेत्रों से इधर–उधर देखना ।

4) सावद्य क्रिया दोष :– सामायिक में घर सम्बन्धी सावद्य–पापवाली प्रवृत्ति करना ।

5) आलंबन दोष :– सामायिक में स्तम्भ का सहारा लेकर बैठना ।

6) आकुंचन प्रसारण दोष :– सामायिक में पैर को फैलाना व संकुचित करना ।

7) आलस्य दोष :– सामायिक में आलस्य करना ।

8) मोटन दोष :– हाथ–पैर की अंगुलियों को चटकाना ।

9) मल दोष :– शरीर का मैल उतारना ।

10) विमासण दोष :– सामायिक में आलसी की तरह पड़े रहना ।

11) निद्रा दोष :– सामायिक में नींद लेना ।

12) वस्त्र संकुचन दोष :– मैले होने के भय से वस्त्रों का संकोचन करना ।

इन दोषों के सेवन से सामायिक में अतिचार लगता है ।

(4) अनवस्थान :– दो घड़ी का समय पूरा होने के पहले ही सामायिक पार लेना । सामायिक को जैसे–तैसे पूरा करना, सामायिक का समय होने पर भी आलस्य करना इत्यादि ।

(5) स्मृतिहीनता :– निद्रादि की प्रबलता के कारण सामायिक में उपयोग नहीं रहना ।

'मैंने सामायिक लिया या नहीं ?' इसका ख्याल न होना । सामायिक के काल का उपयोग न रखना ।

इससे भी सामायिक व्रत में अतिचार लगता है ।

उपयोग तो सर्व धर्मों का मूल है । उपयोगपूर्वक की गई प्रवृत्ति ही सार्थक और फलदायी बनती है । अतः सामायिक आदि में पूर्ण उपयोग रखना चाहिए ।

दसवें व्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गा–ऽऽदान–निक्षेप–संस्तारोपक्रमणाऽनादर–स्मृत्यनुपस्थापनानि ।।7-29।।

सामान्य अर्थ :– पौषधोपवास व्रत के–अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित आदान–निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– शरीर के आरोग्य को पुष्ट करे उसे औषध कहते हैं और आत्मा के आरोग्य को पुष्ट करे उसे पौषध कहते हैं ।

पौषध के आसेवन से आत्मा के भाव गुणों की अभिवृद्धि होती है । पौषध से श्रावक को सर्वविरति जीवन का आस्वाद मिलता है । पौषध में दिन भर पापों का त्याग और आत्मगुणों के पोषक तप–त्याग–संयम–स्वाध्याय आदि का आचरण होता है ।

पूर्वोक्त सभी व्रतों की अपेक्षा इस व्रत द्वारा सबसे अधिक त्याग किया जाता है ।

अतः श्रावक को अधिकाधिक पौषध व्रत का स्वीकार करना चाहिए । विशेष करके पर्वतिथि में अवश्य करना चाहिए । इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नांकित हैं–

1) अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित उत्सर्ग :– अप्रत्यवेक्षित अर्थात् आँखों से देखे बिना अथवा ठीक से देखे बिना । अप्रमार्जित अर्थात् चरवले आदि से प्रमार्जन किये बिना अथवा ठीक से प्रमार्जन किये बिना । उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना । पौषध में रहे श्रावक को मल–मूत्र आदि विसर्जन करने योग्य वस्तु का त्याग करने से पहले, भूमि को आँखों से बराबर देखकर, चरवले से प्रमार्जित करनी चाहिए । यदि न करे या ठीक से न करे तो अतिचार दोष लगता है ।

2) अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित आदान–निक्षेपः– पौषध में रहे श्रावक को किसी भी वस्तु को आदान अर्थात् लेने से पहले और निक्षेप अर्थात् रखने से पहले भूमि को आँखों से बराबर देखकर चरवले से प्रमार्जित करना चाहिए । यदि न करे या ठीक से न करे तो अतिचार दोष लगता है ।

3) अप्रत्यवेक्षित–अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण :– पौषध में रहे श्रावक को सोने हेतु संथारा एवं बैठने हेतु आसन को बिछाने के पहले भूमि को आँखों से बराबर देखकर चरवले से प्रमार्जन करना चाहिए । यदि न करे या ठीक से न करे तो अतिचार दोष लगता है ।

4) अनादर :– पौषध करने में उत्साह नहीं रखना अथवा पौषध लेने के बाद क्रिया आदि जैसे–तैसे करने से अनादर रूप अतिचार दोष लगता है ।

5) स्मृत्यनुपस्थापन :– पौषध स्वीकार करने के बाद प्रमाद के वश या मतिभ्रंश के कारण **'मैं पौषध में हूँ या नहीं'** ? इस तरह भूल जाने से अथवा पौषध की विधि भूल जाने से अतिचार दोष लगता है ।

ग्यारहवें व्रत के अतिचार

सचित्तसंबद्ध–संमिश्रा–ऽभिषव–दुष्पक्वाऽऽहाराः ॥7–30॥

सामान्य अर्थ :– उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत के सचित्त आहार, सचित्त संबद्ध आहार, सचित्त संमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्वाहार–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत में श्रावक को सचित्त आहार आदि का त्याग करना चाहिए। इस व्रत के अतिचार निम्नांकित हैं–

1) सचित्त आहार :– जिसने सचित्त आहार का सर्वथा त्याग किया हो, वह व्यक्ति अनाभोग से सचित्त वस्तु का भक्षण करे, तो उसे इस व्रत में अतिचार लगता है। यदि जानबूझकर वापरे तो व्रतभंग होता है।

2) सचित्त संबद्ध आहार :– बोर–आम–द्राक्ष आदि बीजयुक्त फल को वापरते समय बीज को पहले से न निकाले, मुँह में डालने के बाद मुँह से बाहर निकाले तो बीज निकालने से व्रतभंग नहीं होता परंतु वापरने योग्य वस्तु सचित्त से जुड़ी होने से अतिचार दोष लगता है।

3) सचित्त संमिश्र आहार :– थोड़ा भाग सचित्त हो और थोड़ा अचित्त हो ऐसी सचित्त से मिश्रित अचित्त वस्तु का आहार करना। जैसे– फलादि के गर्भ का बीज से दो घड़ी तक अलग होने के बाद वह अचित्त बनता है, अतः उसके पहले नहीं खाना चाहिए।

ताजे पिसे हुए आटे को अचित्त की बुद्धि से भक्षण करे, तो उसे सचित्त संमिश्र आहार नामक अतिचार लगता है।

4) अभिषव आहार :– नशा पैदा करे ऐसे मद्य आदि मादक आहार ग्रहण करने से अथवा आहार में पैदा हुए कीड़ी, कुंथु आदि सूक्ष्म जीवों से युक्त आहार करने से अभिषव आहार नामक अतिचार दोष लगता है।

5) दुष्पक्व आहार :– आधा पका हुआ अथवा भुंजा हुआ भोजन करना। जैसे–चना, जौ आदि को अर्द्ध भुंजित ही खाना। उन्हें अचित्त की कल्पना से भूल से खा लेवे तो अतिचार लगता है।

बारहवें व्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेप–पिधान–परव्यपदेश–मात्सर्य–कालातिक्रमाः ।।7-31।।

सामान्य अर्थ :– अतिथि-संविभाग-व्रत के सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम–ये पाँच अतिचार है ।

विवेचन :– अतिथि संविभाग व्रत में श्रावक को अतिथि अर्थात् साधुओं को कल्प्य आहार आदि वोहराना चाहिए । इस व्रत के निम्नांकित पाँच अतिचार हैं–

1) सचित्तनिक्षेप :– साधु भगवंत को देने योग्य वस्तु अनाभोग से (भूल) सचित्त वस्तु के ऊपर रख दे तो व्रत में अतिचार लगता है ।

बाकि तो **'सचित्त पदार्थ पर रही वस्तु साधु भगवंत नहीं बहोरेंगे'** ऐसा जानते हुए, जान बूझकर कल्प्य वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखे तो व्रत का भंग होता है ।

2) सचित्तपिधान :– साधु भगवंत को कल्प्य वस्तु के ऊपर भूल से सचित्त वस्तु रख दे तो व्रत में अतिचार लगता है ।

3) पर–व्यपदेश :– दान देने की बुद्धि से अन्य की वस्तु को अपनी कहने से तथा न देने की बुद्धि से अपनी वस्तु को दूसरों की कहने से अतिचार दोष लगता है ।

4) मात्सर्य :– दान देते समय मन में गुस्सा करना कि **''सामान्य व्यक्ति भी दान दे सकता है, तो क्या मैं नहीं दे सकता ? क्या मैं उससे कम हूँ ?''** –इस प्रकार मन में ईर्ष्या–मात्सर्य से दान देने से अतिचार दोष लगता है ।

5) कालातिक्रम दान :– मुनिराज के भिक्षादान का काल व्यतीत हो जाने के बाद उनको गोचरी के लिए निमंत्रण देना ।

संलेखना व्रत के अतिचार

जीवित–मरणाऽऽशंसा–मित्रानुराग–सुखानुबंध–निदानकरणानि ।।7–32।।

सामान्य अर्थ :– संलेखना व्रत के जीवित आशंसा, मरणआशंसा, मित्र अनुराग, सुखानुबंध और निदानकरण–ये पाँच अतिचार हैं ।

विवेचन :– मरणसमय समाधि भाव बना रहे इसलिए मन में जीवन–मरण, पुत्र–परिवार, परलोक के सुख आदि की इच्छा नहीं होनी चाहिए। इन इच्छाओं का त्याग कर संलेखना व्रत को स्वीकार करते हुए अंत समय में चार आहार के त्याग से शरीर का शोषण करना चाहिए एवं सर्वजीव क्षमापना तथा भौतिक पदार्थ पर रही मूर्च्छा को दूर करते हुए कषायशोषण करना चाहिए।

इस व्रत के निम्नांकित पाँच अतिचार हैं–

1) जीवित आशंसा :– संलेखना स्वीकार करने के बाद अधिक जीवन जीने की इच्छा करने से जीवित आशंसा नामक अतिचार दोष लगता है। जैसे–यदि मैं ज्यादा जीऊंगा तो मेरा सत्कार–सन्मान अधिक समय तक हो सकेगा, जिससे चारों ओर मेरी कीर्ति फैलेगी, आदि।

2) मरण आशंसा :– संलेखना स्वीकार करने के बाद जल्दी मरने की इच्छा करने से मरण आशंसा नामक अतिचार दोष लगता है। जैसे–तप बड़ा कठिन है और लोक में कुछ भी सन्मान नहीं मिल रहा है, अतः जल्दी मृत्यु आ जाय तो अच्छा हो जाय आदि।

3) मित्रानुराग :– मित्र, पुत्र, पत्नी, स्वजन, संबंधी पर ममत्व रखने से मित्रानुराग नामक अतिचार दोष लगता है।

4) सुखानुबंध :– जीवन में अनुभव किये सुखों को मरण समय में स्मरण करने से सुखानुबंध नामक अतिचार दोष लगता है।

5) निदानकरण :– जीवन में आचरण किये तप–संयम के प्रभाव से अगले जन्म में मैं चक्रवर्ती, वासुदेव, मांडलिक राजा,बलवान, रूपवान आदि बनूँ, ऐसे मनुष्यलोक संबंधी सुख की इच्छा करने से अथवा देव, इन्द्र, सामानिक देवता आदि बनूँ, ऐसे देवलोक संबंधी सुख की इच्छा करने से निदानकरण नामक अतिचार दोष लगता है।

दान का स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।।7-33।।

सामान्य अर्थ :– स्वयं और पर के उपकार के लिए स्वयं की वस्तु को सुपात्र में देना–दान है ।

विवेचन :– मात्र वस्तु को देना दान धर्म नहीं है । दान की क्रिया धर्म रूप में तभी बनती है, जब वह स्व–पर दोनों के लिए उपकारकारक हो ।

स्व–पर उपकार के दो प्रकार हैं–प्रधान और अप्रधान । प्रधान अर्थात् मुख्य । अप्रधान अर्थात् गौण । अप्रधान उपकार भी इसलोक और परलोक की अपेक्षा दो प्रकार के हैं ।

स्वयं पर होने वाले उपकार–

दान देने वाला, दान की प्रवृत्ति से 1) कर्म की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त करता है–यह प्रधान उपकार है ।

2) संतोष गुण–वैभव की प्राप्ति आदि इसलोक का अप्रधान उपकार है ।

3) विशिष्ट स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति आदि परलोक का अप्रधान उपकार है ।

पर के ऊपर होने वाले उपकार–

दान स्वीकार करनेवाला, दान की क्रिया से 1) कर्म की निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करता है–यह प्रधान उपकार है ।

2) दान में स्वीकार की गयी सामग्री मोक्षमार्ग की साधना में सहायक होने से आराधना में वृद्धि आदि इस लोक का अप्रधान उपकार है ।

3) धर्माराधना के द्वारा विशिष्ट स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति आदि परलोक का अप्रधान उपकार है ।

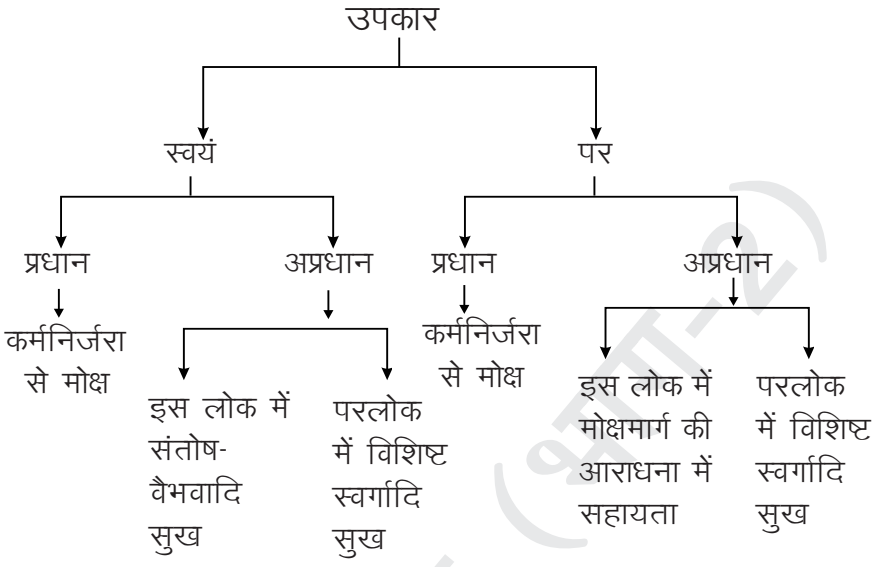

दान की क्रिया में विशेषता से फल में भेद

विधि–द्रव्य–दातृ–पात्रविशेषात् तद्विशेषः ।।7-34।।

सामान्य अर्थ :– विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दानधर्म भी विशेष होता है ।

विवेचन :– जिस प्रकार उपजाऊ भूमि में बोया हुआ एक बीज अनेक गुणा धान्य की उत्पत्ति में कारण बनता है, जबकि बंजर भूमि में बोये अनेक बीज भी विशेष फलदायी नहीं बनते हैं; उसी प्रकार दान की क्रिया समान होने पर भी विधि के पालन, द्रव्य, दाता और पात्र की भिन्नता से फल में भी भिन्नता पैदा होती है ।

(1) दान देने की विधि–

1) देश :– दान देते समय दाता और ग्रहणकर्ता दोनों जिस भूमि में खड़े हों, वह भूमि त्रस–स्थावर जीवों से रहित होनी चाहिए ।

2) काल :– दान की क्रिया दिन में होनी चाहिए, रात्रि में नहीं, एवं दिन में भी स्वयं के लिए भोजन बनाया हो ऐसे उचित काल में दान देना चाहिए ।

3) श्रद्धा :– गुणवान को दान देने की अभिलाषा होना, श्रद्धा हो–**'गुणवान को दिया हुआ दान, अपूर्व कर्मनिर्जरा करानेवाला होने से महाफलदायी है'**–ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए ।

4) सत्कार :– दान का प्रसंग आने पर बहुमान पूर्वक अपने स्थान से खड़े होना, दान देते समय मन में अपार आनंद का अनुभव करना इत्यादि ।

5) क्रम :– दान देने योग्य वस्तु का क्रम अर्थात् जिस देश में जो क्रम प्रसिद्ध हो उस क्रम से दान देना चाहिए । जैसे पात्र का क्रम, रत्नाधिक का क्रम अथवा भोजन में रही सामग्री के मूल्य का क्रम इत्यादि ।

6) कल्पनीय :– दान देने योग्य सामग्री उद्‌गम आदि दोष-रहित, अभक्ष्य–अपेय–अग्राह्य न हो, ऐसी निर्दोष सामग्री का दान देना चाहिए ।

(2) दान देने का द्रव्य :– जो द्रव्य दान के रूप में दिया जाने वाला हो उस द्रव्य के रस, गंध आदि बिगड़े हुए न होने चाहिए । अच्छी जाति एवं गुणों से युक्त होने चाहिए इत्यादि । ऐसे अन्न–पान, वस्त्र, पात्र आदि श्रेष्ठ द्रव्यों का दान देना चाहिए ।

(3) दानदाता :– दानदाता चार गुणों से युक्त और चार दोषों से रहित होना चाहिए ।

दानदाता के चार गुण–

1) प्रसन्नता :– साधु आदि अपने गृहांगण में आये तब दाता अपने आप को बड़ा पुण्यशाली मानते हुए प्रसन्नता का अनुभव करे ।

2) आदर :– साधु पधारे तब **पधारो–पधारो,** हमें इन-इन श्रेष्ठ वस्तुओं का लाभ दो, इस प्रकार आदर पूर्वक विनती करे ।

3) हर्ष :– साधु के दर्शन मात्र से हर्षित होना । किसी वस्तु की याचना करे तो हर्षित मन से उसे प्रदान करे ।

4) शुभाशय :– दान देते समय इस लोक या परलोक के भौतिक सुखों की इच्छा न करे । बल्कि अपनी आत्मा का संसार से निस्तार हो, इस भावना से दान देना चाहिए ।

दानदाता को त्याग करने योग्य चार दोष–

1) विषाद का अभाव :– दान देने के बाद पश्चात्ताप न करे ।

2) भौतिक सुख की कामना का अभाव :– दान देने के द्वारा किसी भी भौतिक सुख की इच्छा न करे ।

3) माया का अभाव :– सरलता पूर्वक दान दे, किसी प्रकार की माया न करे ।

4) निदान का अभाव :– दान देने के फलस्वरूप परलोक-सुख का निदान न करे ।

(4) दान योग्य पात्र :– दान का पात्र अर्थात् जिसे दान दिया जा रहा हो, वह सुपात्र हो । सम्यग्दर्शन आदि गुणों से अलंकृत सर्वविरतिधर साधु एवं देशविरतिधर श्रावक सुपात्र है ।

दान देते समय जितने अंश में विधि आदि का पालन हो, उतने अंश में अधिक लाभ होता है और जितने अंश में विधि आदि की न्यूनता हो, उतने अंश में न्यून लाभ होता है ।

दान के पाँच भूषण

सुंदर वस्त्रों के साथ कीमती अलंकार पहिनने से व्यक्ति की शोभा में चार चाँद लग जाते हैं, उसी प्रकार दान एक शुभ क्रिया होने पर भी उसे निम्नलिखित पाँच भूषणों से अलंकृत किया जाय तो उसकी शोभा अनेक गुणी बढ़ जाती है । दान के पाँच भूषणों से विभूषित वह दान मुक्ति का अंग बने बिना नहीं रहेगा । ये रहे दान के पाँच भूषण–

1) आनंद के आँसू :– `अहो ! मेरा कितना सद्भाग्य ! ऐसे गुरुवर मेरे घर पधारे !' इस प्रकार दान देते समय आँखों में हर्ष के आँसू आ जाय ।

2) रोमांच :– दान देते समय सारा देह रोमांचित हो जाय । एक भिखारी को चिंतामणि रत्न की प्राप्ति से होने वाले आश्चर्य से भी बढ़कर आश्चर्य हो और मन में अपना अहोभाग्य समझे ।

3) बहुमान :– दान देते समय सुपात्र आत्मा के प्रति हृदय में पूरा–पूरा आदर बहुमान भाव हो ।

4) प्रिय वचन :– 'पधारो ! पधारो !' 'आपने मुझ पर महान् उपकार किया ।' इत्यादि प्रिय व मधुर वचनों के साथ भक्तिपूर्वक दान दिया जाय ।

5) अनुमोदना :– 'आज मेरा कितना सद्भाग्य था कि मुझे सुपात्रदान का अवसर मिला ।' इस प्रकार दान देने के बाद हृदय में बारबार उस दान की अनुमोदना बनी रहे ।

दान देने का जब भी अवसर मिले तब इन भूषणों को सदैव साथ रखना, तभी दान मुक्ति का कारण बन सकेगा ।

दान के पाँच दूषण–

शुभ क्रिया भी विधिपूर्वक और शुभ भावपूर्वक की जाय तभी विशेष फलदायी बनती है । शुभ क्रिया के साथ अविधि की जाय अथवा मलिन भाव रखा जाय तो शुभ क्रिया भी लाभ के बजाय नुकसान का कारण बन जाती है ।

दान देना शुभ क्रिया है, परंतु उस दान के साथ पाँच या कोई भी एक दूषण जुड़ा हुआ हो तो वह दान मोक्ष का कारण नहीं बन पाता है ।

1) अनादर :– अनादर पूर्वक दान दिया जाय । सामने योग्य पात्र होने पर भी उनके प्रति आदर–सत्कार भाव न होना, अनादर कहलाता है । अनादर से दान दूषित हो जाता है ।

2) विलंब :– योग्य पात्र आत्मा को दान देने में जानबूझकर विलंब किया जाय । **''अभी नहीं, बाद में आना''**, कहकर दान के उपयुक्त अवसर को टाला जाय ।

3) तिरस्कार :– **'चल पड़े ये भिखारी !'** इत्यादि कटु शब्द पूर्वक तिरस्कार सहित दान देना ।

4) अभिमान :– **'मैं कितना बड़ा दानी हूँ, मेरे द्वार पर कितने याचक आते हैं !'** इत्यादि अभिमानपूर्वक दान देना ।

5) पश्चात्ताप :– **'अरे ! उनको दान देना बेकार था, मैंने भूल कर दी ।'** दान देने के बाद ऐसे भाव मन में लाना ।

विष की एक बूँद दूध के कटोरे को जहर बना देती है, बस, इसी प्रकार ये दुर्भाव दान की शुभ क्रिया को भी दूषित करनेवाले जहर हैं ।

दान निष्काम भाव से करें :– प्रतिफल पाने की इच्छा से किया हुआ बड़ा भी धर्म अल्पफलदायी बनता है, जबकि निष्काम भाव से किया हुआ छोटा-सा धर्म भी महान् फलदायी बनता है । दान देते समय किसी प्रकार के बदले की इच्छा न रखें । शालिभद्र ने अपने पूर्व भव में निष्काम भाव से दान दिया था, तो उसे अपार संपत्ति मिली और एक दिन उस अपार संपत्ति का त्याग कर वे चारित्र धर्म को स्वीकार भी कर सके ।

धर्म के फलस्वरूप किसी भौतिक वस्तु को पाने के संकल्प करने से उस धर्म के फलस्वरूप वह वस्तु मिल तो जाती है, परंतु उससे आत्मा के पतन की संभावना रहती है, जबकि निष्काम भाव से किया दान जीव को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाता है ।

व्रत (सूत्र 1,2)

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथून और परिग्रह से विरति

- **सर्व विरति=महाव्रत (सूत्र 3)**
  - 1) सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत
    - 5 भावनाएँ
    - 1) मनोगुप्ति
    - 2) एषणा समिति
    - 3) ईर्या समिति
    - 4) आदान-भंडमत्त निक्षेपण समिति
    - 5) देखकर अन्न-जल ग्रहण करना
  - 2) सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत
    - 5 भावनाएँ
    - 1) हास्य त्याग
    - 2) लोभ त्याग
    - 3) भय त्याग
    - 4) क्रोध त्याग
    - 5) विचार पूर्वक बोलना
  - 3) सर्वथा अदत्तादान विरमण महाव्रत
    - 5 भावनाएँ
    - 1) अनुवीचि अवग्रह याचना
    - 2) बार-बार अवग्रह याचना
    - 3) अवग्रह अवधारण
    - 4) साधर्मिक अवग्रह याचना
    - 5) अनुज्ञापित भक्तपान
  - 4) सर्वथा मैथून विरमण महाव्रत
    - 5 भावनाएँ
    - 1) स्त्री-पशु-नपुंसक वसति त्याग
    - 2) रागयुक्त स्त्रीकथा त्याग
    - 3) पूर्वक्रीड़ा स्मरण त्याग
    - 4) मनोहर इन्द्रिय अवलोकन त्याग
    - 5) प्रणीतरस भोजन त्याग
  - 5) सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत
    - 5 भावनाएँ
    - पांच इन्द्रिय के अनुकूल और प्रतिकूल विषयो पर राग-द्वेष का त्याग
- **देश विरति=अणुव्रत**

व्रतों की स्थिरता हेतु भावनाएँ

- **प्रथम भावना (सूत्र 4)**
  - 1) इस जन्म में अनर्थ की परंपरा
  - 2) परलोक में करुण विपाक
- **दुसरी भावना (सूत्र 5)**
  - 1) हिंसादि पांच पाप दु:ख रुप ही है ।
- **तीसरी भावना (सूत्र 6)**
  - 1) सभी जीवों पर-मैत्री भाव 2) गुणाधिक पर-प्रमोद भाव
  - 3) दु:खी पर-करुणा भाव 4) पापी पर-माध्यस्थ भाव
- **चौथी भावना (सूत्र 7)**
  - 1) संसार के स्वरुप का विचार
  - 2) शरीर के स्वरुप का विचार

हिंसादि पापों का स्वरुप (सूत्र 8 से 12)

हिंसा – प्रमाद के योग से प्राणों का वियोग ।
असत्य – अयथार्थ वचन बोलना ।
स्तेय – नहीं दी हुई वस्तु को आज्ञा के बिना ग्रहण करना ।
अब्रह्म – मैथुन सेवन करना ।
परिग्रह – जड या चेतन पर असक्ति रखना ।

देशविरति=अणुव्रत (सूत्र 16)

5 अणुव्रत

1) स्थूल प्राणातिपात विरमण
2) स्थूल मृषावाद विरमण
3) स्थूल अदत्तादान विरमण
4) स्थूल मैथून विरमण
5) स्थूल परिग्रह विरमण

3 गुणव्रत

1) दिग्विरति व्रत
2) देशावगासिक व्रत
3) अनर्थदण्ड विरति व्रत

4 शिक्षाव्रत

1) सामायिक व्रत
2) पौषधोपवास व्रत
3) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत
4) अतिथि संविभाग व्रत

व्रती (सूत्र 13, 14)

शल्य रहित अहिंसा आदि व्रत जिसे हो

- **अगारी (सूत्र 15)** → अणुव्रत धारक
- **अनगार** → महाव्रत धारक

संलेखना (सूत्र 17)

- **स्वरुप** → मरण के समय करने योग्य व्रत.
- **अतिचार (सूत्र 32)**
  1) जीवित आशंसा 2) मरण आशंसा
  3) मित्रानुराग 4) सुखानुबंध
  5) निदान करण

व्रतों में 5-5 अतिचार (सूत्र–19)

सम्यग्दर्शन (सूत्र 18)
1) शंका
2) आकांक्षा
3) विचिकित्सा
4) अन्यदृष्टि प्रशंसा
5) अन्यदृष्टि संस्तव

स्थूल प्राणातिपात विरमण अणुव्रत (सूत्र 20)
1) बन्ध
2) वध
3) चर्म विच्छेद
4) अतिभार आरोपण
5) अन्न-पान निरोध

स्थूल मृषावाद विरमण अणुव्रत (सूत्र 21)
1) मिथ्या उपदेश
2) रहस्य अभ्याख्यान
3) कूट लेख क्रिया
4) न्यासापहार
5) साकारमंत्र भेद

स्थूल अदत्तादान विरमण अणुव्रत (सूत्र 22)
1) स्तेन प्रयोग
2) चोरी का माल खरीदना
3) राज्य विरुद्ध कार्य
4) हीनाधिक मानोन्मान
5) प्रतिरुपक व्यवहार

स्थूल मैथून विरमण अणुव्रत (सूत्र 23)
1) परविवाह करण
2) इत्वर परिगृहीता गमन
3) अपरिगृहीता गमन
4) अनंग क्रीडा
5) तीव्र कामाभिनिवेश

स्थूल परिग्रह विरमण अणुव्रत (सूत्र 24)
1) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम
2) हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम
3) धन-धान्य प्रमाणातिक्रम
4) दास-दासी प्रमाणातिक्रम
5) कुप्य प्रमाणातिक्रम

दिग्विरतिव्रत (सूत्र 25)
1) ऊर्ध्व व्यतिक्रमण
2) अधो व्यतिक्रमण
3) तिर्यग् व्यतिक्रमण
4) क्षेत्र वृद्धि
5) स्मृत्यन्तर्धान

देशावगासिक व्रत (सूत्र 26)
1) आनयन प्रयोग
2) प्रेष्य प्रयोग
3) शब्दानुपात
4) रूपानुपात
5) पुद्गल क्षेप

अनर्थदण्ड विरति व्रत (सूत्र 27)
1) कंदर्प
2) कौत्कुच्य
3) मौखर्य
4) अधिकरण
5) भोगातिरिक्त

सामायिक व्रत (सूत्र 28)
1) मन से दुष्प्रणिधान
2) वचन से दुष्प्रणिधान
3) काया से दुष्प्रणिधान
4) अनवस्थान
5) स्मृतिहीनता

पौषधोपवास व्रत (सूत्र 29)
1) अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग
2) अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान-निक्षेप
3) अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तारोपक्रमण
4) अनादर
5) स्मृत्यनुपस्थापन

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत (सूत्र 30)
1) सचित्त आहार
2) सचित्त संबद्ध आहार
3) सचित्त संमिश्र आहार
4) अभिषव आहार
5) दुष्पक्व आहार

अतिथि संविभाग व्रत (सूत्र 29)
1) सचित्त निक्षेप
2) सचित्त निधान
3) पर व्यपदेश
4) मात्सर्य
5) कालातिक्रम दान

दान (सूत्र–33, 34)

स्वयं और पर के उपकार के लिए स्वयं की वस्तु को सुपात्र में दे

विधि
1) देश 2) काल
3) श्रद्धा 4) सत्कार
5) क्रम 6) कल्पनीय

द्रव्य
अच्छे जाति एवं गुणो से युक्त श्रेष्ठ द्रव्य का दान

दानदाता

4 गुण
1) प्रसन्नता 2) आदर
3) हर्ष 4) शुभाशय

4 दोष का त्याग
1) विषाद का अभाव
2) भौतिक सुख की कामना का अभाव
3) माया का अभाव 4) निदान का अभाव

पात्र
1) सर्वविरतिधर
2) देशविरतिधर
3) समकिती

आठवाँ अध्याय

पूर्व के सात अध्याय तक जीव, अजीव, आश्रव इन तीन तत्त्वों का वर्णन किया। अब आठवें अध्याय में बंध तत्त्व का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

कर्मबंध के हेतु

मिथ्यादर्शना–ऽविरति–प्रमाद–कषाय–योगा बन्धहेतवः ।।8-1।।

सामान्य अर्थ :– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग–ये पाँच कर्मबंध के मुख्य हेतु हैं।

विवेचन :– कर्मबंध के मुख्य पाँच हेतु हैं–(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय और (5) योग।

इन पाँचो के सेवन से आत्मा प्रतिसमय कर्म का बंध करती है। अपनी आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक आत्म–प्रदेश पर अनन्त–अनन्त कार्मण–वर्गणाएँ लगी हुई हैं और प्रत्येक कर्म में आत्मा को भयंकर सजा देने की ताकत रही हुई है।

(1) मिथ्यात्व :– मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा अथवा दृष्टि। तत्त्व में अतत्त्व–बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व–बुद्धि मिथ्यात्व है।

वीतराग को देव न मानना और रागादि से कलुषित आत्माओं को देव मानना। जो निर्ग्रंथ गुरु हैं, उन्हें गुरु नहीं मानना और जो उन्मार्ग के उपदेशक हैं, उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार करना।

जिनेश्वर देव के द्वारा कथित दयामय धर्म को अस्वीकार करना और अज्ञानी द्वारा निर्दिष्ट हिंसामय प्रवृत्ति को धर्म मानना।

मिथ्यात्व के 5 भेद हैं–

1) आभिग्रहिक मिथ्यात्व :– मिथ्या धर्म पर दुराग्रह करना, आत्मा को एकान्त नित्य अथवा अनित्यादि स्वीकार करना इत्यादि।

2) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :– सभी धर्मों को समान समझना । तत्त्व–अतत्त्व के सन्दर्भ में विवेक का अभाव होना ।

3) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :– सर्वज्ञ के बहुत से वचनों पर विश्वास करना, किन्तु 1–2 बात पर विश्वास नहीं करना और अपनी बात का दुराग्रह करना ।

4) सांशयिक मिथ्यात्व :– सर्वज्ञ के वचन में शंकाशील बनना अर्थात् जिनेश्वर ने जिस वस्तु का जैसा निरूपण किया है, उसमें शंकाएँ पैदा करना ।

5) अनाभोगिक मिथ्यात्व :– तत्त्व–अतत्त्व के अध्यवसाय का सर्वथा अभाव । एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मन के अभाव के कारण **'तत्त्व क्या है ?'** इस प्रकार का विचार ही नहीं होता है ।

मिथ्यात्व की उपस्थिति में 9½ पूर्व का ज्ञान भी अज्ञान और चारित्र भी कायकष्ट कहलाता है । मिथ्यादृष्टि आत्मा करोड़ों वर्षों के तप आदि से जितने कर्मों की निर्जरा करती है, उससे भी अधिक कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि आत्मा एक नवकारसी के पच्चक्खाण से कर लेती है । मिथ्यात्व सभी पापों का सरदार है, अतः जब तक इसकी उपस्थिति है, तब तक आत्मा में कर्मों का आश्रव अत्यधिक परिमाण में होता है ।

2) अविरति :– अविरति अर्थात् पाप के त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव । जबतक इच्छापूर्वक रुचि के साथ पाप–त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की जाती है, तब तक पाप न करते हुए भी पाप का बंध होता है ।

1) जैसे किसी से आपने मकान भाड़े पर लिया हो, अब उस मकान का आप उपयोग करें या न करें, तो भी आपको उसका भाड़ा चुकाना पड़ता है ।

2) किसी से रुपये उधार लिये । अब उन रुपयों का आप उपयोग करें या न करें, समय होने पर आपको ब्याज देना पड़ता है ।

3) बिजलीघर से आपने अपने घर में बिजली का कनेक्शन लिया

हो तो आपको प्रतिमास न्यूनतम चार्ज देना ही पड़ता है । यदि आप नहीं देना चाहते हैं तो आपको कनेक्शन कटवाना चाहिए ।

इसी प्रकार यदि आप कर्मों का बंधन नहीं चाहते हैं तो पाप–त्याग की प्रतिज्ञा के द्वारा पापों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए, अन्यथा उनका आगमन सतत जारी रहता है ।

एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं में अविरति का तीव्र उदय होने से कर्मों का आश्रव चालू रहता है ।

अविरति के त्याग की प्रतिज्ञा का बहुत बड़ा फल है ।

सर्वविरति के स्वीकार से एक भिखारी भी त्रिलोक–पूज्य बन जाता है । पूर्व भव में एक दिन की दीक्षा के पालन से भिखारी का जीव संप्रति महाराजा बन गया था ।

3) प्रमाद :– जिससे आत्मा अपने आत्मभाव का त्याग कर विषय–कषाय आदि में उन्मत्त होकर प्रवृत्ति करती है, उसे प्रमाद कहते हैं । प्रमाद आत्मा का भयंकर शत्रु है । प्रमाद आत्मा के भवभ्रमण का कारण है । आत्मा के भाव प्राणों का नाश करने में प्रमाद भयंकर विष समान है ।

प्रमाद के कारण आत्मा मोक्षमार्ग में स्खलना करती है । आर्त–रौद्रध्यान रूपी अशुभ विचार भी प्रमाद हैं । शास्त्र में प्रमाद के मुख्य पाँच भेद बताए हैं–

(1) मद्य :– नशीले पदार्थों का सेवन ।

(2) विषय :– पाँच इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का भोग ।

(3) कषाय :– क्रोधादि चार कषायों के वश होना ।

(4) निद्रा :– निद्रा, निद्रा–निद्रा, प्रचला, प्रचला–प्रचला और थिणद्धी रूप पाँच प्रकार की निद्रा के वश होना ।

(5) विकथा :– राजकथा, भक्तकथा, देशकथा और स्त्रीकथा में प्रवृत्ति करना ।

अन्य अपेक्षा से अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म विषयक अनादर और मन–वचन–काया का दुष्प्रणिधान–ये आठ प्रकार के भी प्रमाद हैं ।

कर्मग्रंथ आदि ग्रंथों में कर्मबंध के मात्र चार हेतु बताए हैं, क्योंकि कषाय का समावेश प्रमाद में हो जाता है । फिर भी यहाँ कषाय की प्रधानता बताने एवं मंदबुद्धि जीवों के सुक्ष्म बोध के लिए कषाय को भिन्न हेतु कहा है ।

4) कषाय :– कष अर्थात् संसार । **आय** अर्थात् वृद्धि । जिसके सेवन से आत्मा के संसार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं । कषाय के सेवन से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है ।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ । इनके सेवन से आत्मा कर्मों का बंध करती है । अल्पकालीन कषाय का भी परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है । क्रोध कषाय के आवेश के कारण कंडरिक को 7 वीं नरक–भूमि में जाना पड़ा । लोभ के वश पड़कर मम्मण सेठ मरकर 7 वीं नरक भूमि में चला गया ।

5) योग :– मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं । मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्मा कर्म का बंध करती है । शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म (पुण्य) का बंध और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म (पाप) का बंध होता है ।

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की प्रवृत्ति से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है और आत्मा इस भीषण संसार में भटकती है । इन मिथ्यादर्शन आदि बंध हेतुओं में पहले–पहले के बंधहेतु होने पर बाद में रहे बंधहेतु अवश्य होते हैं, परंतु बाद के हेतु होने पर पहले के बंध हेतु हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं ।

बंध की व्याख्या

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ।।8-2।।
स बन्धः ।।8-3।।

सामान्य अर्थ :– कषाय के कारण जीव, कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, इसे बंध कहते हैं ।

विवेचन :– जीवात्मा का संसार में परिभ्रमण का मुख्य कारण कर्म है । ऐसे कर्मो के बंध में पूर्वसूत्र में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को हेतु कहा है । फिर भी कषाय की प्रधानता बताने के लिए इस सूत्र में कहा है कि कषाय के कारण जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है ।

ग्रहण किये हुए पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध में पानी की तरह मिलन की प्रक्रिया को बंध कहते हैं ।

लोहे के गोले को तपाने से वह गोला लाल हो जाता है, अग्नि के परमाणु लोहे के गोले के साथ एकस्वरूप बन जाते हैं, उसी प्रकार बंध की प्रक्रिया द्वारा आत्मा और कर्मपरमाणु एकाकार बन जाते हैं ।

कर्मबंध के फलस्वरूप आत्मा चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करती है और उन कर्मों के उदय से नाना प्रकार के कष्ट व यातनाएँ सहन करती हैं ।

बंध के भेद

प्रकृति–स्थित्यनुभाव–प्रदेशास्तद्विधयः ।।8–4।।

सामान्य अर्थ :– कर्मबंध के चार भेद हैं–प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाव (रस) बंध और प्रदेशबंध ।

विवेचन :– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मबंध के मुख्य पाँच हेतु हैं । इन पाँचों के माध्यम से आत्मा में कार्मण वर्गणा का प्रवेश होता है । आत्मा के साथ एकमेक बनी उसी कार्मण वर्गणा को हम कर्म कहते हैं ।

कर्मबंध के साथ ही निम्न चार प्रक्रियाएँ हो जाती हैं–

1) प्रकृति बंध The Nature of the Karma :

2) स्थिति बंध Period of the Karma :

3) रस बंध Power of the Karma :

4) प्रदेश बंध Quantity of the Karma :

उदा. सूँठ की गोली (छोटा लड्डू) के दृष्टांत से उपरोक्त चार बातें स्पष्ट हो जाती है ।

1) सूँठ के लड्डू में वायु के नाश का स्वभाव है ।

2) वह लड्डू 15–20 दिन तक अच्छी हालत में रह सकता है ।

3) उस लड्डू में घी–शक्कर की तरतमता के अनुसार मधुर, तिक्त आदि रस रहा है ।

4) वह लड्डू 20–25 ग्राम के परिमाणवाला है ।

उपरोक्त दृष्टांत के अनुसार आत्मा जब मिथ्यात्व आदि के कारण कर्म का बंध करती है तो उसके साथ ही उसके स्वभाव आदि का भी निश्चय हो जाता है, उसी को प्रकृति आदि बंध कहते हैं । यद्यपि कर्म का बंध तो एक ही है, परंतु उनमें होने वाली प्रक्रियाओं के अनुसार ये औपचारिक भेद किए कए हैं–

1) प्रकृति बंध :– मन, वचन और काया के शुभ-अशुभ योग और अध्यवसाय के अनुसार बँधे हुए कर्म की प्रकृति का तत्क्षण निश्चय होता है ।

जिस प्रकार सभी प्रकार का खुराक मुँह से लेते हैं, परंतु वही खुराक पेट में जाने के बाद उसमें से रक्त, चर्बी, हड्डी, मज्जा, मल–मूत्र, पसीना आदि बनता है । उसी प्रकार आत्मा जिस समय कर्म का बंध करती है, उसके साथ ही उस कर्म में फल देने का स्वभाव भी निर्धारित हो जाता है ।

❀ जैसे–किसी व्यक्ति ने ज्ञानी गुरुदेव का अपमान किया...तो उस समय बँधा हुआ कर्म मुख्यतया ज्ञानावरणीय होगा, जिसके फलस्वरूप आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण पैदा होगा ।

❀ एक व्यक्ति ने किसी निरपराध व्यक्ति को निष्कारण मार डाला । उस समय जिस कर्म का बंध होगा वह अशाता वेदनीय कहलाएगा ।

❀ किसी ने गुस्सा या अभिमान किया तो उसे मोहनीय कर्म का बंध होगा । उसी प्रकार दान देने से, परमात्मा की पूजा–भक्ति करने से, दीन-दु:खी को मदद करने से, शीलपालन आदि करने से पुण्य कर्म का बंध होगा । इस कर्म के उदय से आत्मा को बाह्य सुख–शांति और समृद्धि की प्राप्ति होगी ।

2) स्थिति बंध :– कर्मबंध के साथ ही वह कर्म आत्मा के साथ कितने काल तक रहेगा, इसका भी निश्चय हो जाता है, उसे **स्थिति बंध** कहते हैं । कर्म की स्थिति दो प्रकार की होती है–

1) जघन्य स्थिति और 2) उत्कृष्ट स्थिति ।

कर्मों की जघन्य स्थिति दो समय की है और उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटाकोटि सागरोपम है । अर्थात् बँधा हुआ वह कर्म उतने समय तक आत्मा के साथ लगा रहेगा, उसके बाद वह कर्म आत्मा से अलग हो जाएगा ।

तीव्र शुभ–अशुभ परिणाम से लंबी स्थितिवाले कर्म का बंध होता है और मंद परिणाम से अल्प स्थितिवाले कर्म का बंध होता है ।

संक्लेशपूर्ण अध्यवसायों से कर्म की लंबी स्थिति का बंध होता है और संक्लेश की मंदता होने पर अल्प स्थिति का बंध होता है ।

कषाय से होनेवाले अशुभ अध्यवसाय को संक्लेश कहते हैं ।

कर्मों की स्थितिबंध और रसबंध की आधारशिला ये अध्यवसाय हैं ।

जिस प्रकार खेत में बीज बोने के साथ ही फल की उत्पत्ति नहीं होती है, कुछ समय लगता है, उसी प्रकार कर्मबंध के साथ ही वह कर्म उदय में नहीं आ जाता है, बल्कि उसके आबाधाकाल के बीतने के बाद ही वह कर्म शुभ अथवा अशुभ फल प्रदान करता है ।

जैसे–मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट 70 कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति का बंध किया हो तो भी वह कर्म 7000 वर्ष के आबाधाकाल बीतने के बाद ही अपना फल प्रदान करेगा ।

कर्म के बंध की जितनी उत्कृष्ट स्थिति होगी, उतना ही उस कर्म के उदय का आबाधाकाल अधिक होगा । आबाधाकाल व्यतीत हुए बिना कोई भी कर्म उदय में नहीं आता है ।

3) रस बंध :– जीव द्वारा ग्रहण किए कर्म पुद्गलों में अनुग्रह व उपघात करने की शक्ति रसबंध से होती है । कषायों की तीव्रता होने पर पापप्रकृति का तीव्र रस और पुण्यप्रकृति का मंद रस होता है । अध्यवसायों के अनुसार ज्ञान–दर्शन आदि आत्मगुणों को हीन–अधिक प्रमाण में दबाने की शक्ति को रसबंध कहते हैं ।

रसबंध के चार भेद बतलाए हैं-

1) मंद 2) तीव्र 3) तीव्रतर और 4) तीव्रतम ।

इन्हें शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार–

1) एक स्थानिक रस 2) द्वि स्थानिक रस 3) त्रि स्थानिक रस और 4) चतुः स्थानिक रस भी कहते हैं ।

स्थितिबंध और रसबंध का आधार कषायों की परिणति होने से अशुभ प्रकृति का चतुःस्थानिक रस का बंध होता है और शुभ–प्रकृति का इससे विपरीत बंध होता है ।

4) प्रदेश बंध :– प्रति समय जीवात्मा के द्वारा कार्मण वर्गणा के जितने दलिकों (परमाणुओं) को ग्रहण किया जाता है, उस दलिक संख्या के नियत प्रमाण को प्रदेशबंध कहते हैं । प्रति समय आत्मा कार्मण वर्गणा के दलिकों को न्यूनाधिक संख्या में ग्रहण करती है । प्रदेशबंध का मुख्य आधार योग है ।

प्रकृतिबंध के मूलभेद

आद्यो ज्ञान–दर्शनाऽऽवरण–वेदनीय–मोहनीया–ऽऽयुष्क–नाम–गोत्रा–ऽन्तरायाः ।।8-5।।

सामान्य अर्थ :– प्रथम प्रकृतिबंध के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म ये आठ भेद हैं।

विवेचन :– पूर्व सूत्र में बताए कर्मबंध के चार भेदों में आद्य–अर्थात् प्रथम प्रकृति बंध के ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अंतराय कर्म ये आठ भेद हैं। ये क्रमशः आत्मा में रहे अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन अव्याबाध सुख, वीतरागता, अक्षय स्थिति, अरूपिता, अगुरुलघु और अनंत वीर्य गुण का घात करते हैं।

आठ कर्म के उत्तर भेदों की संख्या

पञ्च–नव–द्व्यष्टाविंशति–चतु–र्द्विचत्वारिंशद्–द्वि–पञ्चभेदा यथाक्रमम् ।।8–6।।

सामान्य अर्थ :– ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्रमशः 5, 9, 2, 28, 4, 42, 2, 5 उत्तर भेद हैं।

विवेचन :–

कर्म	उत्तर भेद
ज्ञानावरणीय	5
दर्शनावरणीय	9
वेदनीय	2
मोहनीय	28
आयुष्य	4
नाम	42
गोत्र	2
अंतराय	5
कुल	97

ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद

मत्यादीनाम् ।।8–7।।

सामान्य अर्थ :– मति आदि पाँच ज्ञान के आवारक होने से ज्ञानावरणीय के पाँच भेद हैं ।

विवेचन :–

ज्ञान के प्रकार और आवारक कर्म

1) मतिज्ञान और मतिज्ञानावरणीय कर्म :– मन और इन्द्रियों की सहायता से होने वाले पदार्थबोध को मतिज्ञान कहते हैं और उसके आवारक कर्म को **मतिज्ञानावरणीय** कर्म कहते हैं ।

2) श्रुतज्ञान एवं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म :– शब्द का श्रवण कर जो अर्थबोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं और उसे रोकने वाले कर्म को **श्रुतज्ञानावरणीय** कर्म कहते हैं ।

3) अवधिज्ञान एवं अवधिज्ञानावरणीय कर्म :– इन्द्रिय और मन की सहायता बिना द्रव्य–क्षेत्र–काल की मर्यादा में आत्मा को प्रत्यक्ष रूपी द्रव्यों का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं और उसे रोकने वाले कर्म को **अवधिज्ञानावरणीय** कर्म कहते हैं ।

4) मनःपर्यवज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म :– इन्द्रिय और मन की सहायता बिना ढाई द्वीप में रहे संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को आत्मा के द्वारा साक्षात् जाना जाता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं और उसे रोकने वाले कर्म को **मनःपर्यवज्ञानावरणीय** कर्म कहते हैं ।

5) केवलज्ञान और केवलज्ञानावरणीय कर्म :– इन्द्रिय और मन की सहायता बिना जगत् में रहे हुए समस्त रूपी–अरूपी पदार्थों को हाथ में रहे आँवले की भाँति प्रत्यक्ष देखा जाए, उसे केवलज्ञान कहते हैं और उसके आवारक कर्म को **केवलज्ञानावरणीय** कर्म कहते हैं ।

प्रत्यक्षज्ञान और परोक्षज्ञान

1) मन व इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले मति और श्रुत ज्ञान, परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं ।

2) मन व इन्द्रियों की सहायता के बिना होनेवाले आत्मप्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्यव व केवलज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्मबंध के हेतु–

1) ज्ञानी की आशातना करने से ।

2) ज्ञान में विघ्न डालने से ।

3) ज्ञानी का अविनय–अनादर करने से ।

4) ज्ञानी व ज्ञान के साधनों पर थूकना तथा मल–मूत्र आदि करना ।

5) ज्ञानी की निंदा करने से ।

6) ज्ञान का विनाश करने से ।

7) ज्ञान का दुरुपयोग करने से ।

ज्ञानावरणीय कर्मबंध से बचने के उपाय–

1) छपे हुए कागज–पुस्तक को जलाना नहीं चाहिए ।

2) छपी पुस्तकों को पटकना, फेंकना और मोड़ना नहीं चाहिए ।

3) छपी पुस्तक–लिखे हुए कागज पर मल–मूत्र नहीं करना चाहिए और उन कागज आदि से मल–मूत्र साफ नहीं करने चाहिए ।

4) छपे हुए कागज पर भोजन नहीं करना चाहिए ।

5) जूठे मुँह बोलना नहीं चाहिए ।

6) अध्ययन कर रहे को अंतराय नहीं करना चाहिए।

7) बहिनों को M.C. पिरियड में पुस्तक आदि नहीं पढ़ना चाहिए ।

8) जिनवचन का गलत अर्थ नहीं करना चाहिए ।

9) ज्ञानद्रव्य का भक्षण नहीं करना चाहिए । उसका रक्षण करना चाहिए ।

10) पेन–पेंसिल से कान साफ नहीं करना चाहिए ।

11) पुस्तक–अखबार आदि से हवा नहीं डालनी चाहिए ।

12) पुस्तक पर बैठना नहीं चाहिए ।

दर्शनावरणीय कर्म के भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा–निद्रानिद्रा–प्रचला–प्रचलाप्रचला–स्त्यानगृद्धि वेदनीयानि च ।।8-8।।

सामान्य अर्थ :– दर्शनावरणीय कर्म के चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल–इन चार दर्शनों के आवरण तथा निद्रावेदनीय , निद्रा–निद्रावेदनीय, प्रचलावेदनीय, प्रचलाप्रचला वेदनीय और स्त्यानर्द्धि वेदनीय ये पाँच वेदनीय –इस प्रकार चार दर्शनावरणीय और पाँच वेदनीय रूप नौ भेद हैं ।

विवेचन :– जगत् में रहे समस्त पदार्थों में सामान्य धर्म और विशेष धर्म रहे हुए हैं । वस्तु में रहे सामान्य धर्म के बोध को दर्शन कहते है और वस्तु में रहे विशेष धर्म के बोध को ज्ञान कहते है ।

वस्तु में रहे सामान्य गुण के बोध को रोकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है और वस्तु में रहे विशेष गुण के बोध को रोकने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कहलाता है ।

चक्षु अर्थात् आँख, अचक्षु अर्थात् शेष इन्द्रियाँ, अवधि और केवल द्वारा होनेवाले सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं । यह आवरण चार प्रकार का है ।

1) चक्षुदर्शनावरणीय :– इस कर्म के उदय से जीवात्मा को आँख नहीं मिलती है अथवा मिली हो तो कमजोर होती है । इस कर्म के उदय से जन्मांधता, मोतियाबिंदु, झामरा, रतांधता आदि अनेक प्रकार की आँख की बीमारियाँ होती हैं । इस कर्म का उदय आँख से होनेवाले सामान्य ज्ञान में बाधक बनता है ।

2) अचक्षु दर्शनावरणीय :– आँख को छोड़कर, त्वचा, जीभ, नाक, कान एवं मन के द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को अचक्षु दर्शन

कहते हैं। इस कर्म के उदय से आँख सिवाय की शेष चार इन्द्रियाँ बराबर नहीं मिलती हैं अथवा न्यून और कमजोर मिलती हैं। चर्मरोग, गूंगापन, नाक के रोग, बहरापना, कान के रोग आदि इस कर्म के उदय के कारण होते हैं। अर्थात् इस कर्म के उदय से चक्षु सिवाय चार इन्द्रियां तथा मन से होनेवाले सामान्य ज्ञान में बाधाएँ खड़ी होती हैं।

3) अवधिदर्शनावरणीय :– अवधिज्ञान के पहले अवधिदर्शन पैदा होता है। उस अवधिदर्शन को रोकनेवाला कर्म अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

4) केवलदर्शनावरणीय :– आत्मा में रहे केवलदर्शन गुण को रोकनेवाला कर्म केवलदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

5) निद्रा वेदनीय :– चुटकी बजाने पर अथवा मात्र सामान्य आवाज करने पर व्यक्ति जग जाता है, उसे निद्रा का उदय कहते है अर्थात् इस कर्म के उदय से व्यक्ति को सामान्य नींद आती है और व्यक्ति तुरंत ही जग जाता है। उदा. कुत्ते की नींद। थोड़ी सी आवाज होने पर कुत्ता जग जाता है।

6) निद्रा–निद्रा वेदनीय :– जिस कर्म के उदय से जीव को गाढ़ नींद आती हो, जिस नींद में से उसे जगाना मुश्किल हो, उसे निद्रा–निद्रा कहते हैं। लोकव्यवहार में जिसे कुंभकर्ण की नींद कहते हैं।

7) प्रचला वेदनीय :– बैठे–बैठे या खड़े–खड़े जो नींद आ जाती है, उसे प्रचला कहा जाता है।

8) प्रचला–प्रचला वेदनीय :– चलते–चलते नींद आती हो, उसे प्रचला–प्रचला कहा जाता है।

9) स्त्यानर्द्धि (स्त्यानगृद्धि) वेदनीय (थीणद्धि) :– दिन में सोचा हुआ कार्य रात्रि में नींद में ही कर ले, ऐसी निद्रावस्था को थीणद्धि निद्रा कहते हैं। इस निद्रा के उदयवाले को अर्धचक्री अर्थात् वासुदेव से आधा बल होता है। वह हाथी जैसे बडे प्राणी को भी मार डालता है।

जिस व्यक्ति को थीणद्धि निद्रा का उदय होता है, ऐसा व्यक्ति

दिन में सोचा हुआ कार्य निद्रा में ही कर लेता है, काम पूरा कर वापस अपने घर आकर सो जाता है, फिर भी उसे पता नहीं चलता है कि मैंने यह कार्य किया है ।

◆ एक बार किसी साधु महाराज को दिन में किसी हाथी ने हैरान किया । रात्रि में सोने के बाद उन महात्मा को थीणद्धि निद्रा का उदय हुआ । रात्रि में वे महात्मा नींद में ही उपाश्रय से बाहर निकल गए । नगर बाहर उस हाथी के पास गए और उस हाथी को मारकर उसके दाँत उखाड़कर ले आए और वे दाँत उपाश्रय के बाहर फेंक दिए । फिर उपाश्रय में आकर अपने संथारे में सो गए ।

प्रातःकाल होने पर वे गुरु महाराज को कहने लगे, ''आज मैंने एक स्वप्न देखा और उस स्वप्न में मैंने हाथी को मार डाला, अतः मुझे प्रायश्चित्त दो ।''

गुरु महाराज ने उसे प्रायश्चित्त दिया । थोड़ी देर बाद जब उनके कपड़ों पर खून के दाग देखे और बाहर पडे दंतशूल देखे तो गुरु महाराज को ख्याल आ गया कि इस महात्मा को थीणद्धि निद्रा का उदय है और इन्होंने ही हाथी को मार डाला है ।

थीणद्धि निद्रा के उदय का पता चलते ही गुरु महाराज ने उस साधु महाराज के पास से साधुवेष ले लिया और उसे रवाना कर दिया ।

पाँच निद्रा–चक्षुदर्शनावरणीय आदि का क्षयोपशम होने पर भी ये पाँच निद्राए दर्शनलब्धि को रोकती हैं । अर्थात् उतने काल तक दर्शन-लब्धि पर आवरण आता है, इसलिए इन्हें वेदनीय कहते हैं । यहाँ वेदनीय का अर्थ है–अनुभव करना न कि तीसरा वेदनीय कर्म ।

निद्रा का उदय होने पर जीव निश्चेष्ट जैसा हो जाता है, निद्रा में देखने, सुनने, सूँघने आदि की सभी क्रियाएँ बंद हो जाती हैं । अतः नींद में रहे व्यक्ति को किसी भी इन्द्रिय द्वारा होनेवाला सामान्यबोध भी नहीं होता है । निद्रापंचक को सर्वघाती कहा गया है ।

❀ ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के बंध के हेतु समान हैं । जिस प्रवृत्ति से ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति का बंध होता है, उसी प्रवृत्ति से दर्शनावरणीय कर्म का भी बंध होता है ।

दर्शनावरणीय कर्म के बंध की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

वेदनीय कर्म के भेद

सदसद्वेद्ये ।।8-9।।

सामान्य अर्थ :– वेदनीय कर्म के सद्वेद्य = सातावेदनीय और असद्वेद्य = असातावेदनीय–ये दो भेद हैं ।

विवेचन :– जिस प्रकार अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन आत्मा के गुण हैं, उसी प्रकार अव्याबाध सुख भी आत्मा का मूल गुण है । ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन गुण पर आवरण लाते हैं उसी प्रकार वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख गुण को रोकता है । यह कर्म आत्मा को वास्तविक सुख का अनुभव करने नहीं देता है । इस कर्म के उदय से आत्मा इन्द्रियजन्य सुख–दुःख का अनुभव करती है । इसके दो भेद हैं–

1) साता वेदनीय कर्म :– सानुकूल सामग्री मिलने पर आत्मा को जिस सुख की अनुभूति होती है, उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं ।

2) असाता वेदनीय कर्म :– प्रतिकूल सामग्री मिलने पर आत्मा को जिस दुःख की अनुभूति होती है, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं ।

वेदनीय कर्म के संपूर्ण क्षय से आत्मा में अव्याबाध सुख पैदा होता है, उस सुख में और साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त सुख में बहुत बड़ा अंतर है ।

साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाला सुख अल्पकालीन, दुःखमिश्रित और नश्वर होता है, जबकि इस कर्म के क्षय से प्राप्त सुख शाश्वत, अव्याबाध और अक्षय होता है ।

इस कर्म के उदय से जीवात्मा को अनेक प्रकार की बीमारियाँ और यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

वेदनीय कर्म के उदय से जीव को इन्द्रिय विषय–जन्य सुख–दुःख की अनुभूति होती है । वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियाँ–साता वेदनीय और असाता वेदनीय परावर्तमान प्रकृति हैं ।

परावर्तमान अर्थात् परिवर्तनशील ! कभी सातावेदनीय का उदय तो कभी असातावेदनीय का उदय होता है ।

अधिकांशतः देवता और मनुष्यों को साता वेदनीय का उदय होता है और तिर्यंच और नरक के जीवों को असाता वेदनीय का उदय होता है ।

देवलोक में पुण्य का उदय विशेष होता है, इस कारण वहाँ इन्द्रियजन्य सुखों की बहुलता है । नरक के जीवों को पाप का तीव्र उदय होता है, वहाँ इन्द्रियजन्य सुख के साधन उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ प्रतिकूल संयोग भरे हुए हैं, उन जीवों के सतत असाता का उदय होता है ।

तिर्यंच गति के जीवों के दुःख प्रत्यक्ष देखे जाते हैं । भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, रोग आदि की पीड़ाएँ उन्हें सताती रहती हैं, अतः वहाँ भी असाता की प्रधानता है ।

कभी-कभी कुछ तिर्यंचों को अनुकूलताएँ मिल जाती हैं । कुछ कुत्ते गाड़ी में भी घूमते हैं । कुछ हाथी–घोड़ों को स्नान, आहार आदि मिल जाता है । यह इनके साता वेदनीय का उदय कहलाता है । नारक–तिर्यंचों की अपेक्षा मनुष्य को कम दुःख होता है, अतः इस अपेक्षा मनुष्य को साता वेदनीय का उदय कहा गया है ।

यद्यपि देवलोक में सुख की सामग्री अत्यधिक प्रमाण में है फिर भी ईर्ष्या, मत्सरता, लोभ आदि के कारण देवता भी दुःखी होते है । देवताओं का आयुष्य जब पूर्ण होने आता है, उसके छह मास पहले उनके गले में रही फूलों की माला कुम्हलाने लगती है । उनका मुखमंडल निस्तेज हो जाता है । मरकर तिर्यंच गति में जाना पड़े तो उसकी भी

चिंता सताती है । इस प्रकार देवता को भी कभी–कभी असाता का उदय हो सकता है ।

मोहनीय कर्म के भेद

दर्शन-चारित्र मोहनीय-कषाय-नोकषाय वेदनीया-ख्यास्त्रि-द्वि-षोडश-नवभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि, कषाय-नोकषायावनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभा-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा स्त्री-पुं-नपुंसकवेदाः ।।8–10।।

सामान्य अर्थ :– मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं–दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं–सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और तदुभय अर्थात् मिश्र मोहनीय ।

चारित्र मोहनीय के मुख्य दो भेद हैं–कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय ।

कषाय मोहनीय के सोलह भेद हैं–अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ ।

नोकषाय मोहनीय के नौ भेद हैं–हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद । इस प्रकार कुल 28 भेद होते हैं ।

विवेचन :– आत्मा में रहे अनंत ज्ञान गुण को ढकने का कार्य ज्ञानावरणीय कर्म करता है, उसी प्रकार आत्मा में रहे **'वीतरागता'** गुण को ढकने का कार्य मोहनीय कर्म करता है ।

आत्मा का मूल स्वभाव **'वीतरागता'** है अर्थात् राग और द्वेष का सर्वथा अभाव !

मोहनीय कर्म का उदय आत्मा में राग और द्वेष पैदा करता है ।

उस राग–द्वेष के कारण आत्मा, पाप में प्रवृत्ति करती है अर्थात् निष्पाप ऐसी आत्मा को पापी बनाने का कार्य मोहनीय कर्म करता है ।

साता वेदनीय का उदय व्यक्ति को सुखी बनाता है । असाता वेदनीय का उदय व्यक्ति को दुःखी बनाता है जबकि मोहनीय कर्म का उदय व्यक्ति को पापी बनाता है ।

मोह अर्थात् जो आत्मा को मोहित करे–भ्रमित करे । जो सत्य हो उसमें असत्य की बुद्धि और जो असत्य हो, उसमें सत्य की बुद्धि पैदा करने का काम मोहनीय कर्म करता है ।

मोहनीय कर्म के उदय से जीव अयोग्य–अनुचित प्रवृत्ति करता है ।

क्रोध करने जैसा नहीं है, फिर भी मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा क्रोध करती है ।

अभिमान करने जैसा नहीं है, माया करने जैसी नहीं है, लोभ करने जैसा नहीं है, फिर भी आत्मा मोहनीय कर्म के उदय से अभिमान करती है, माया करती है और लोभ भी करती है ।

इतना ही नहीं, क्रोध, मान आदि करने के बाद मोहनीय कर्म के उदय के कारण आत्मा उस क्रोध आदि को अच्छा भी मानती है ।

गलत को सही कहना, अच्छा मानना, यह सबसे बड़ा अपराध है ।

मोहनीय कर्म आत्मा को अपराधी बनाता है ।

पाप से भी पाप का स्वीकार न करना, बड़ा अपराध है । पापी यदि अपने पाप का स्वीकार करे तो पापी का भी उद्धार हो सकता है, परंतु पाप करके भी जो पाप का स्वीकार नहीं करता है, पाप को खराब नहीं मानता है, ''मैंने जो किया, वह अच्छा किया ।'' ऐसा ही मानता है, ऐसी आत्मा का कभी उद्धार नहीं हो सकता है ।

मोहनीय कर्म पाप का स्वीकार करने नहीं देता है । मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में शुभ भाव, शुभ विचार पैदा ही नहीं होते हैं ।

मोहनीय कर्म आत्मा को कामी, क्रोधी, लोभी, रागी, द्वेषी आदि बनाता है ।

साधक और आराधक आत्मा को भी विचार–भ्रष्ट और आचार–भ्रष्ट बनाने का काम मोहनीय कर्म करता है ।

शराब के नशे में मस्त व्यक्ति को जैसे कुछ भान नहीं होता है, उसी प्रकार मोह के नशे में मत्त बने व्यक्ति को कुछ भान नहीं रहता है । कर्तव्य–अकर्तव्य, भक्ष्य–अभक्ष्य, पेय–अपेय आदि की भी भेदरेखा उसके पास नहीं होती है ।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं– 1) दर्शन मोहनीय और 2) चारित्र मोहनीय ।

1) दर्शन मोहनीय :– आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण को घात करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं । इस कर्म के उदय से आत्मा में जिनवचन पर सच्ची श्रद्धा पैदा नहीं होती है । इस कर्म के उदय से आत्मा में मिथ्यात्व की प्रबलता रहती है ।

सर्वज्ञ भगवंतों ने जो कहा है, उससे विपरीत मानने का कार्य मिथ्यात्व करता है ।

2) चारित्र मोहनीय :– आत्मा में रहे चारित्र गुण को नष्ट करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कहते हैं । इस कर्म के उदय से आत्मा जिनाज्ञानुसारी प्रवृत्ति नहीं कर पाती है ।

दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से जिनवचन में पूर्ण श्रद्धा हो जाय परंतु इस कर्म का उदय हो तो आत्मा जिनोपदिष्ट आचरण कर नहीं पाती है ।

संक्षेप में कहे तो–आत्मा में रहे क्षायिक सम्यक्त्व गुण को ढकने का कार्य दर्शन मोहनीय कर्म करता है और आत्मा में रहे वीतरागता गुण को ढकने का कार्य चारित्र मोहनीय कर्म करता है ।

दर्शन मोहनीय कर्म के तीन भेद हैं–1) सम्यक्त्व मोहनीय 2) मिथ्यात्व मोहनीय 3) मिश्र मोहनीय ।

1) सम्यक्त्व मोहनीय :– सम्यग्दर्शन–यह आत्मा का गुण है, परंतु सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट

नहीं होता है । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिक विशुद्ध होने के कारण सम्यग्दर्शन गुण का नाश नहीं होता है । सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय में जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा कहे हुए तत्त्व पर रुचि बनी रहती है । फिर भी कभी-कभी अतिचार दोष लगने की संभावना रहती है ।

2) मिथ्यात्व मोहनीय :– मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीवात्मा को जिनेश्वर भगवंत द्वारा प्ररूपित जीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं होती है । जैसे रोगी को पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगती है, बल्कि अपथ्य चीजें अच्छी लगती हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीवात्मा को वीतराग–प्ररूपित वचन अच्छे नहीं लगते हैं ।

मिथ्यात्व के उदय से जीव 18 दोषों से रहित सर्वज्ञ–वीतराग भगवंत को देव के रूप में स्वीकार नहीं करता है, बल्कि जो राग–द्वेष से युक्त हैं, उन्हें देव के रूप में स्वीकार करता है ।

जो कंचन–कामिनी के त्यागी और पंच महाव्रतधारी हैं ,उन्हें वह गुरु के रूप में स्वीकार न कर उन्मार्ग की राह बतानेवालों को गुरु के रूप में स्वीकार करता है ।

वह वीतराग प्ररूपित धर्म को धर्म नहीं मानता है और मिथ्याधर्म को धर्म के रूप में स्वीकार करता है ।

जिस व्यक्ति को साँप का जहर चढ़ा हो, उसे नीम के कड़वे पत्ते भी मीठे लगते हैं । बस, इसी प्रकार जिस आत्मा को मिथ्यात्व का जहर चढ़ा हो, उस आत्मा को संसार का तुच्छ सुख भी अत्यधिक प्रिय लगता है ।

3) मिश्र मोहनीय :– मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव को श्री अरिहंत परमात्मा द्वारा प्ररूपित जिनधर्म के प्रति न तो राग भाव होता है और न ही द्वेष भाव । मिश्र मोहनीय का उदय एक अन्तर्मुहूर्त तक होता है, उसके बाद अध्यवसाय बिगड़ जाय तो जीव को मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय हो जाता है और अध्यवसाय सुधर जाय तो सम्यक्त्व मोहनीय कर्म उदय में आ जाता है ।

चारित्र मोहनीय के कुल 25 भेद हैं–16 कषाय तथा 9 नोकषाय ।

कषाय–कष अर्थात् संसार, आय अर्थात् लाभ !

जिस प्रवृत्ति से आत्मा के संसार की वृद्धि हो, उसे कषाय कहा जाता है । क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष रूप आत्मा के गुणों को ढकने का काम ये कषाय करते हैं ।

कषाय के मुख्य चार भेद हैं ।

1) क्रोध :– समता भाव छोड़कर किसी पर गुस्सा करना, उसे क्रोध कहा जाता है । अपनी इष्ट वस्तु कोई चुरा लेता है, तोड़ देता है, तब क्रोध पैदा होता है । कोई अपने साथ कटु व्यवहार करता है, तब क्रोध पैदा होता है ।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण क्रोध पैदा होता है ।

2) मान :– पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री का अहंकार करना, उसे मान कहते हैं । अभिमान पैदा होने पर नम्रता चली जाती है । यह मान भी चारित्र मोहनीय के उदय की ही पैदाश है ।

3) माया :– किसी वस्तु को पाने के लिए, किसी को ठगने की वृत्ति को माया कहते हैं । माया करने से सरलता गुण का नाश होता है । चारित्र मोहनीय के उदय से माया की प्रवृत्ति होती है ।

4) लोभ :– प्राप्त सामग्री में असंतोष और अधिक से अधिक पाने की लालसा को लोभ कहते हैं । लोभ से संतोष गुण का नाश होता है । चारित्र मोहनीय के उदय से लोभ वृत्ति पैदा होती है ।

इन मुख्य चार कषायों के परिणाम जब तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मंद होते हैं, तब वे ही क्रमशः अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन कहलाते हैं ।

1 से 4 अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ।

5 से 8 अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ ।

9 से 12 प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ ।

13 से 16 संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ ।

इस प्रकार कषाय के कुल 16 भेद हुए ।

1 से 4) अनंतानुबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ :– जो क्रोध जिंदगी पर्यंत रहता हो और जन्मांतर में भी साथ चलता हो, उसे अनंतानुबंधी क्रोध कहते है । इस क्रोध के अस्तित्व में आत्मा नरक गति के आयुष्य का बंध करती है । यह कषाय आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करता है । इस कषाय के उदयकाल में आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करती है । इतना ही नहीं, सम्यक्त्व विद्यमान हो तो भी चला जाता है ।

अनंतानुबंधी क्रोध की तरह अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ की भी यही स्थिति, नरक आयुष्य–बंध और सम्यक्त्व गुण–घातक समझना चाहिए ।

5 से 8) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान–माया–लोभ :– जो क्रोध अधिक से अधिक एक वर्ष पर्यंत रहता हो उसे अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध कहा जाता है, इस कषाय के उदयवाली आत्मा तिर्यंचगति के आयुष्य का बंध करती है, इस कषाय का उदय होने पर आत्मा देशविरति के योग्य अध्यवसाय प्राप्त नहीं कर पाती है ।

अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध की तरह अप्रत्याख्यानावरणीय मान, अप्रत्याख्यानावरणीय माया और अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ की भी 1 वर्ष की स्थिति, तिर्यंचगति के आयुष्य का बंध और देशविरति के गुण का घात समझना चाहिए ।

9–12) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान–माया–लोभ :– जो क्रोध अधिक से अधिक चार मास पर्यंत रहता हो तो उस क्रोध को प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध कहा जाता है । इस क्रोध के उदय में आत्मा मनुष्य गति के आयुष्य का बंध कर सकती है । इस कषाय के उदयकाल में आत्मा सर्वविरति के प्रायोग्य अध्यवसायों को प्राप्त नहीं कर पाती है अर्थात् इस कषाय का उदय होने पर आत्मा सर्वविरति प्राप्त नहीं करती है ।

प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध की तरह प्रत्याख्यानावरणीय मान, प्रत्याख्यानावरणीय माया, प्रत्याख्यानावरणीय लोभ की भी वही चार मास की स्थिति, मनुष्यगति के आयुष्य का बंध और सर्वविरति के गुण का घात समझना चाहिए ।

13 से 16) संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ :– जो क्रोध अधिक से अधिक 15 दिन पर्यंत रहता हो तो उस क्रोध को संज्वलन क्रोध कहा जाता है अर्थात् संज्वलन क्रोध उत्पन्न हुआ हो तो वह 15 दिन में अवश्य शांत हो जाता है । संज्वलन क्रोध के उदय में आत्मा, आयुष्य का बंध करे तो देवगति के आयुष्य का बंध करती है ।

यह संज्वलन क्रोध आत्मा के यथाख्यात चारित्र गुण को रोकता है अर्थात् इस कषाय के उदय से आत्मा में यथाख्यात चारित्र पैदा नहीं होता है ।

संज्वलन क्रोध की तरह संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ की भी वही 15 दिन की स्थिति, देवगति के आयुष्य का बंध और यथाख्यात चारित्र गुण का घात समझना चाहिए ।

यहाँ अनंतानुबंधी आदि की जो समयमर्यादा बताई गई है वह व्यवहार नय की अपेक्षा समझना चाहिए । बाहुबली को संज्वलन मान का उदय 15 दिन तक रहना चाहिए, उसके बदले एक वर्ष तक रहा और प्रसन्नचंद्र राजर्षि को जो अनंतानुबंधी कषाय जीवन भर रहना चाहिए था, वह मात्र अन्तर्मुहूर्त तक ही रहा । अनंतानुबंधी कषाय का उदय होने पर भी कुछ मिथ्यादृष्टि नौवें ग्रैवेयक में भी चले जाते हैं ।

कषायों की उपमा

क्रोध

1) संज्वलन क्रोध :– यह क्रोध पानी में खींची गई रेखा समान है । जिस प्रकार पानी में रेखा खींचने पर वह रेखा तत्काल मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध तत्काल शांत हो जाता है ।

2) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध :– यह क्रोध धूल में खींची गई रेखा समान है । धूल में खींची गई रेखा तुरंत नहीं मिटती है, लेकिन हवा का झोंका आने पर नष्ट होती है, बस, इसी प्रकार जिस क्रोध को शांत होने में थोड़ा समय लगता है, उसे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध कहते हैं ।

3) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध :– पानी से भरा हुआ तालाब एकदम सूख जाता है, तब उसमें दरारें पड़ जाती हैं, जब तक पुनः पानी का संयोग न हो तब तक वे दरारें बनी रहती हैं, उसी प्रकार जो क्रोध लंबे समय तक (वर्ष पर्यंत) रहता है, वह अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध है ।

4) अनंतानुबंधी क्रोध :– पर्वत में दरारें पड़ जाती हैं तो वे कभी जुडती नहीं हैं । बस, इसी प्रकार जो क्रोध अनेक उपाय करने पर भी जीवन पर्यंत शांत नहीं होता है, वह अनंतानुबंधी क्रोध है ।

मान

1) संज्वलन मान :– बेंत को सामान्य श्रम से मोड़ा जा सकता है, उसी प्रकार जो अहंकार अल्प प्रयास से दूर हो जाता है, उसे संज्वलन मान कहते हैं ।

2) प्रत्याख्यानावरणीय मान :– यह अहंकार लकड़ी के समान है। सूखी लकड़ी को पानी या तैल आदि में रखने से वह नर्म हो जाती है, बस, उसी प्रकार जो अहंकार थोड़ी कठिनाई से दूर होता है, वह प्रत्याख्यानावरणीय मान है ।

3) अप्रत्याख्यानावरणीय मान :– यह अहंकार हड्डी के समान है । हड्डी को मोड़ना कठिन है, उसी प्रकार जो अहंकार जल्दी दूर नहीं होता है, वह अप्रत्याख्यानावरणीय मान है ।

4) अनंतानुबंधी मान :– यह मान पत्थर के स्तंभ समान है । पत्थर के स्तंभ को मोड़ना शक्य नहीं है, उसी प्रकार जिस अहंकार को दूर करना अत्यंत कठिन है, वह अनंतानुबंधी मान है ।

माया

1) संज्वलन माया :– बाँस के छिलके में रहा टेढ़ापन जैसे

बिना श्रम के दूर हो जाता है, उसी प्रकार जो माया तत्काल दूर हो जाती है, वह संज्वलन माया हैं ।

2) प्रत्याख्यानावरणीय माया :– यह माया चलते हुए बैल की मूत्र धारा की वक्रता समान है । जो कुटिल स्वभाव थोड़ी कठिनाई से दूर होता है, वह प्रत्याख्यानावरणीय माया है ।

3) अप्रत्याख्यानावरणीय माया :– यह माया भेड़ के सींग के समान है । भेड़ के सींग की वक्रता को दूर करना कठिन है, इसी प्रकार जिस माया की वक्रता जल्दी दूर नहीं होती है, वह अप्रत्याख्यानावरणीय माया है ।

4) अनंतानुबंधी माया :– यह माया बाँस की जड़ में रही वक्रता समान है । बाँस की जड़ की वक्रता को दूर नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार जिस माया को छोड़ना अत्यंत ही दुष्कर है, वह अनंतानुबंधी माया है ।

लोभ

1) संज्वलन लोभ :– यह लोभ हल्दी के रंग जैसा है । जैसे हल्दी का रंग जल्दी उड़ जाता है, उसी प्रकार जो लोभ तत्काल दूर हो जाता है, वह संज्वलन लोभ है ।

2) अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ :– कपड़े पर काजल का रंग लग जाय तो थोड़ा श्रम करने पर दूर हो जाता है, उसी प्रकार जो लोभ थोड़े श्रम से दूर होता हो, वह अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ है ।

3) प्रत्याख्यानावरणीय लोभ :– यह लोभ बैलगाड़ी के पहिये पर लगे कीचड़ के समान है, जो थोड़ी कठिनाई से दूर होता है, वह प्रत्याख्यानावरणीय लोभ है ।

4) अनंतानुबंधी लोभ :– किरमिची का रंग लगने पर कभी छूटता नहीं है । उसी प्रकार अनेक उपाय करने पर भी जिस लोभ के परिणाम दूर नहीं होते हैं, वह अनंतानुबंधी लोभ है ।

नोकषाय–जो कषाय नहीं है, किंतु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है । जो कषाय को पैदा करने में, उत्तेजित करने में

सहायक हो, उसे नोकषाय कहा जाता है। हास्य, रति, अरति आदि 9 नोकषाय कहलाते हैं।

1) **हास्य मोहनीय :–** भांड आदि की चेष्टा देखकर अर्थात् निमित्त पाकर जो हँसी आती है अथवा भूतकाल के प्रसंग को याद कर बिना कारण जो हँसी आती है, उसे हास्य मोहनीय कहते हैं।

2) रति मोहनीय :– जिस कर्म के उदय से अनुकूल सामग्री मिलने पर मन में जो प्रीति भाव पैदा होता है, उसे रति मोहनीय कहते हैं।

3) अरति मोहनीय :– जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल सामग्री मिलने पर मन में जो अप्रीति–उद्वेग का भाव पैदा होता है, उसे अरति मोहनीय कहते हैं।

4) शोक मोहनीय :– जिस कर्म के उदय से निमित्त मिलने पर या निमित्त नहीं मिलने पर भी शोक का भाव पैदा होता है, उसे शोक मोहनीय कहते हैं।

5) भय मोहनीय :– जिस कर्म के उदय से निमित्त मिलने पर अथवा बिना निमित्त भी भय पैदा होता हो, उसे भय मोहनीय कहते हैं। भय के सात प्रकार हैं–

1) इहलोक भय 2) परलोक भय 3) चोरी का भय 4) अकस्मात् भय 5) आजीविका भय 6) मृत्यु भय और 7) अपयश भय।

6) जुगुप्सा मोहनीय :– जिस कर्म के उदय से सकारण या निष्कारण, बीभत्स पदार्थों को देखकर जो घृणा होती है, उसे जुगुप्सा मोहनीय कहते हैं।

तीन वेद :– आत्मा का मूलभूत स्वभाव अवेदी है। वेद के उदय से संसारी आत्मा को स्त्री, पुरुष आदि के साथ मैथुन सेवन की इच्छा होती है। मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षयकर जो आत्माएँ वीतराग बनती हैं, उन आत्माओं को किसी प्रकार के मैथुन की लेश भी इच्छा या प्रवृत्ति नहीं होती है।

इस वेद के उदय के कारण संसारी जीवों को विजातीय तत्त्व के

प्रति मोह पैदा होता है और आगे चलकर विषय की अभिलाषा जागृत होती है ।

1) स्त्रीवेद :– जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ मैथुनसेवन की इच्छा पैदा होती है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं । इस वेद का उदय करीष की आग के समान है । करीष अर्थात् सूखा गोबर । करीष की आग धीरे–धीरे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार पुरुष के करस्पर्श आदि से स्त्री की कामवासना बढ़ती जाती है ।

2) पुरुष वेद :– जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ मैथुनसेवन की इच्छा होती है, उसे पुरुष वेद कहते हैं । पुरुष वेद का उदय तृण की अग्नि समान है । जिस प्रकार तृण जल्दी सुलगता है और जल्दी शांत हो जाता है; उसी प्रकार पुरुष वेद के उदय से पुरुष को स्त्री के प्रति अधिक उत्सुकता होती है और स्त्रीसेवन के बाद वह उत्सुकता शांत हो जाती है ।

3) नपुंसक वेद :– जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ मैथुनसेवन की इच्छा होती है, उसे नपुंसक वेद कहते हैं । यह कामवासना नगरदाह की आग समान है । नगर में आग लगने पर उस नगर को जलने में अधिक समय लगता है और उस आग को बुझाने में भी अधिक समय लगता है, इसी प्रकार नपुंसक वेद के उदय से जन्य विषयाभिलाषा जल्दी शांत नहीं होती है अर्थात् विषयसेवन से भी तृप्ति नहीं होती है ।

इस प्रकार कषाय मोहनीय की 16 और नोकषाय मोहनीय की 9 प्रकृतियाँ मिलकर चारित्र मोहनीय की कुल 25 प्रकृतियाँ होती हैं ।

दर्शन मोहनीय की 3 और चारित्र मोहनीय की 25 प्रकृतियाँ मिलकर मोहनीय कर्म की कुल 28 प्रकृतियाँ होती हैं ।

आयुष्य कर्म के भेद

नारक–तैर्यग्योन–मानुष–दैवानि ।।8-11।।

सामान्य अर्थ :– आयुष्य कर्म के नारक आयुष्य, तिर्यंच आयुष्य, मनुष्य आयुष्य और देव आयुष्य ये चार भेद हैं ।

विवेचन :– आयुष्य और आयुष्य कर्म में फर्क है । आयुष्य कर्म कारण है और आयुष्य=जीवन उसका फल है ।

आयुष्य कर्म के चार भेद हैं ।

1) नारक आयुष्य कर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव नरक गति का आयुष्य प्राप्त करता है, वह नारक आयुष्य कर्म है ।

2) तिर्यंच आयुष्य कर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंच गति का आयुष्य प्राप्त करता है, वह तिर्यंच आयुष्य कर्म है ।

3) मनुष्य आयुष्य कर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य गति का आयुष्य प्राप्त करता है, वह मनुष्य आयुष्य कर्म है ।

4) देव आयुष्य कर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव देव गति का आयुष्य प्राप्त करता है, वह देव आयुष्य कर्म है ।

आयुष्य के दो भेद हैं–

1) अपवर्तनीय आयुष्य कर्म :– जिस आयुष्य में कमी हो सकती हो उसे अपवर्तनीय आयुष्य कर्म कहते हैं, आयुष्य कम होने पर भी अन्तर्मुहूर्त आयुष्य तो शेष रहता ही है ।

2) अनपवर्तनीय आयुष्य कर्म :– निकाचित रूप में बँधे हुए जिस आयुष्य में लेश भी कमी नहीं होती हो उसे अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं । इस आयुष्य कर्म के दो भेद हैं–

(1) सोपक्रम अनपवर्तनीय :– सोपक्रम अर्थात् आयुष्य टूटने के संयोग । आयुष्य टूटने के संयोग पैदा होने पर भी जो आयुष्य टूटे नहीं उसे सोपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

(2) निरुपक्रम अनपवर्तनीय :– जिस आयुष्य के टूटने के

संयोग ही उपस्थित नहीं होते हो, उसे निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं ।

आयुष्य का आधार, आयुष्य कर्म होने से आयुष्य कर्म नष्ट होने पर आयुष्य भी क्षीण हो जाता है ।

देव, नारक, चरम शरीरी, 63 शलाका पुरुष, अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीप में पैदा हुए मनुष्य–तिर्यंच, कर्मभूमि में पैदा हुए युगलिक आदि का आयुष्य अनपवर्तनीय होता है ।

अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम से युक्त होता है ।

अपने मन में उत्पन्न अध्यवसायादि तथा विष–शस्त्र आदि से जीवन का जो अंत आता है, वे सब उपक्रम कहलाते हैं ।

उपक्रम के 7 भेद हैं–

1) अध्यवसाय :– राग, भय और स्नेह के तीव्र अध्यवसाय से आयुष्य खंडित हो जाता है ।

प्रिय व्यक्ति के वियोग को सहन नहीं करने के कारण अचानक Heart Fail हो जाता है ।

जैसे कृष्ण के आगमन को जानकर, भयभीत बने शोमिल ब्राह्मण की मृत्यु हो गई थी ।

2) दंड, शस्त्र, डोरा, अग्नि, पानी में गिरना, मल–मूत्र के अवरोध तथा विषभक्षण से भी आयुष्य क्षीण हो जाता है ।

3) अति आहार अथवा अत्यंत भूख से भी आयुष्य नष्ट हो जाता है ।

संप्रति की आत्मा ने पूर्व भव में, भिखारी के भव में दीक्षा अंगीकार करने के बाद अति आहार किया था, जिसके परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हो गई थी ।

4) शूल की असह्य पीड़ा, नेत्र–पीड़ा आदि के कारण भी आयुष्य समाप्त हो जाता है ।

5) दीवार, बिजली आदि गिरने से आयुष्य समाप्त हो जाता है ।

6) सर्पदंश आदि से आयुष्य क्षीण हो जाता है ।

7) श्वासोच्छ्वास के अवरोध से आयुष्य क्षीण हो जाता है ।

जो आयुष्य बँधा हुआ होता है, उसमें किसी भी समय में वृद्धि नहीं हो सकती है । व्यवस्थित जीवनचर्या रखने से व्यक्ति दीर्घकाल तक जीता हैं, इसका तात्पर्य यही है कि उसके आयुष्य पर किसी प्रकार का उपघात नहीं लगा । इसी को व्यवहार भाषा में **'आयुष्य बढ़ गया'** कहते हैं, परंतु वास्तव में बँधे हुए आयुष्य में कभी वृद्धि नहीं होती है ।

देवता, नारक तथा असंख्य वर्ष के आयुष्य वाले युगलिक मनुष्य व तिर्यंच अपने वर्तमान आयुष्य में छह मास बाकी रहने पर आगामी भव के आयुष्य का बंध करते हैं ।

सिर्फ चरमशरीरी आत्माएँ अपने जीवन में आयुष्य कर्म का बंध नहीं करती हैं, इनके सिवाय सभी आत्माएँ जीवन में एक बार आगामी भव के आयुष्य का बंध अवश्य करती हैं ।

नामकर्म के भेद

गति–जाति– शरीरा–ऽङ्गोपाङ्ग–निर्माण–बंधन–संघात–संस्थान–संहनन–स्पर्श–रस–गंध–वर्णा–ऽऽनुपूर्व्य–ऽगुरु–लघूपघात–पराघाता –ऽऽतपोद्योतोच्छ्वास–विहायोगतयः प्रत्येकशरीर–त्रस सुभग–सुस्वर–शुभ–सूक्ष्म–पर्याप्त–स्थिरा–ऽऽदेय–यशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ।।8-12।।

सामान्य अर्थ :– नामकर्म के (1) गति, (2) जाति, (3) शरीर, (4) अंगोपांग, (5) निर्माण, (6) बंधन, (7) संघातन, (8) संस्थान, (9) संहनन, (10) स्पर्श, (11) रस, (12) गंध, (13) वर्ण, (14) आनुपूर्वी, (15) अगुरुलघु, (16) उपघात, (17) पराघात, (18) आतप, (19) उद्योत,

(20) श्वासोच्छ्वास, (21) विहायोगति, (22) प्रत्येक शरीर, (23) त्रस, (24) सुभग, (25) सुस्वर, (26) शुभ, (27) सूक्ष्म, (28) पर्याप्त (29) स्थिर, (30) आदेय, (31) यश, तथा (32) साधारण शरीर, (33) स्थावर, (34) दुर्भग, (35) दुस्वर, (36) अशुभ, (37) बादर, (38) अपर्याप्त, (39) अस्थिर, (40) अनादेय, (41) अपयश और (42) तीर्थंकर नामकर्म ।

विवेचन :– आत्मा का मूल स्वभाव अरूपी है, अर्थात् आत्मा का किसी प्रकार का रूप–आकार नहीं है । यहाँ अरूपी से तात्पर्य आत्मा का वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है और शब्द नहीं है, आकार नहीं है ।

जिस प्रकार नटमंडली का नायक, अपने अधीन काम करनेवाले नटों को विविध प्रकार के वेष भजने के लिए बाध्य करता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा को नरक आदि विविध गतियों में विविध प्रकार के आकार आदि धारण करने के लिए बाध्य करता है, उस कर्म का नाम, नामकर्म है ।

इस कर्म के उदय से आत्मा नरक आदि गतियों में विविध प्रकार के आकार–पर्याय को धारण करती है ।

अपेक्षा से नामकर्म के बयालीस, तिरानवे, एकसौ तीन और सड़सठ भेद बताए गए हैं ।

यहाँ सूत्र में बताए नामकर्म के बयालीस भेद के क्रम, कर्मग्रंथ में बताए क्रम से भिन्न है । अभ्यास की दृष्टि से कर्मग्रंथ का क्रम आसान है, इसलिए उस क्रम के अनुसार विवेचन किया गया है–

बयालीस भेद में 14 पिंडप्रकृति+8 प्रत्येक प्रकृति+10 त्रसदशक +10 स्थावरदशक का समावेश है ।

पिंड प्रकृति की कुल 65 प्रकृतियों के साथ 28 प्रकृति (8 प्रत्येक +10 त्रस +10 स्थावर दशक) जोड़ने पर तिरानवे भेद होते हैं । 15 बंधन की विवक्षा करने पर 103 होते हैं । बंधन और संघातन का शरीर में समावेश करने पर तथा सामान्य से वर्ण आदि चार ग्रहण करने पर 67 भेद होते हैं ।

14 पिंड प्रकृति

1) गति नामकर्म :– आत्मा का मूल स्वभाव **'स्थिर'** (अचल) रहने का है, परंतु गति नामकर्म के उदय के कारण आत्मा को एक जगह से दूसरी जगह अर्थात् एक गति से दूसरी गति में जाना पड़ता है ।

2) जाति नामकर्म :– अनेक व्यक्तियों में रहे समान परिणाम को जाति कहते है । जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय आदि सभी को एकेन्द्रिय कहा जाता है ।

3–4) शरीर व अंगोपांग नामकर्म :– आत्मा का मूलभूत स्वभाव अशरीरी है, परंतु संसार में रहना हो तो उसे शरीर धारण करना पड़ता है । आत्मा को भिन्न-भिन्न गति में अलग-अलग शरीर की प्राप्ति शरीर नामकर्म के उदय से और शरीर के अंग उपांग की प्राप्ति अंगोपांग नामकर्म के उदय से होती है ।

5) बंधन नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत औदारिक आदि शरीर पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलों का संबंध हो, उसे बंधन नामकर्म कहते हैं ।

6) संघातन नामकर्म :– उत्पत्ति स्थान में आयी हुई आत्मा, शरीर नामकर्म के उदय से, जिस आकाशप्रदेश में हो, उस आकाश प्रदेश में से शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर रूप में परिणत करती है, फिर उन पुद्गलों को अपने शरीर की लंबाई–चौड़ाई और मोटाई के अनुसार उसका पिंड (समूह) करती है, उसे शास्त्रीय भाषा में संघातन कहा जाता है, उसका कारण संघातन नामकर्म है ।

7) संघयण नामकर्म :– उत्पत्ति स्थान में रही हुई आत्मा, शरीर नामकर्म के उदय से शरीरयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर-पर्याप्ति के बल से रक्त, मांस आदि सात धातुमय शरीर बनाती है, फिर उस शरीर को मजबूत करने के लिए हड्डियों की विशिष्ट रचना होती है, जिसे संघयण कहते हैं । उस संघयण की प्राप्ति संघयण नामकर्म के उदय से होती है ।

8) संस्थान नामकर्म :– शरीर के रूप में परिणत हुए पुद्‌गलों को स्वशरीर की लंबाई–चौड़ाई और मोटाई के अनुसार पुद्‌गलपिंड तैयार होने के बाद उसके अवयव सम और विषम आकार में बनकर अच्छी या खराब आकृति उत्पन्न होती है, उसे संस्थान कहते हैं, उसका कारण संस्थान नाम कर्म है ।

9-10-11-12) वर्ण–गंध–रस और स्पर्श नामकर्म :– संसारी जीव शरीरयोग्य पुद्‌गलों को ग्रहण कर उन्हें शरीर के रूप में परिणत करता है, उस समय उसमें विविध वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पैदा होते हैं । उन वर्ण आदि को पैदा करने का काम वर्ण आदि नामकर्म करते हैं ।

13) आनुपूर्वी नामकर्म :– मरणस्थान से उत्पत्तिस्थान समश्रेणि में हो तो जीव ऋजुगति से उत्पत्ति स्थान में पहुँच जाता है, उस समय उसे किसी की मदद की जरूरत नहीं रहती है, परंतु उत्पत्ति स्थान से विषम गति में जाना हो तो मोड़वाले स्थान पर उसे मदद की जरूरत पड़ती है, यह आनुपूर्वी नामकर्म उस मोड़ के स्थान पर जीव को आगे बढ़ाने में सहायक बनता है ।

14) विहायोगति :– जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ अथवा अशुभ होती है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं ।

8 प्रत्येक प्रकृति

1) पराघात नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव अपने अस्तित्व मात्र से अथवा वचन मात्र से अन्य व्यक्तियों पर अपना प्रभाव डाल सकता हो, उसे पराघात नामकर्म कहते हैं । इस कर्म के उदय से जीव अपने से अधिक बलवान–बुद्धिमान और विद्धानों की दृष्टि में भी अजेय दिखाई देता है, उसके प्रभाव से ही वे पराभूत हो जाते हैं ।

2) श्वासोच्छ्‌वास नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्‌वास लब्धि से युक्त होता है, उसे श्वासोच्छ्‌वास नामकर्म कहते हैं ।

लब्धि पर्याप्ता जीव को उत्पत्ति के पहले समय से प्राप्त नामकर्म का उदय चालू होता है, उसी समय से वह स्व प्रायोग्य पर्याप्ति को पूर्ण

करना आरंभ कर देता है । जब जीव श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होता है, तब उसे श्वासोच्छ्वास नामकर्म का उदय चालू हो जाता है । श्वास लेने छोड़ने का कारण श्वासोच्छ्वास नामकर्म है ।

3) आतप नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का अपना शरीर शीत होने पर भी उष्ण प्रकाश देता हो, उसे आतप नामकर्म कहते हैं, इस आतप नामकर्म का उदय सूर्यबिंब के नीचे बादर पृथ्वीकाय के जीवों को होता है, इन जीवों के सिवाय सूर्यमंडल के अन्य जीवों को आतप नामकर्म का उदय नहीं होता है ।

आतप नामकर्म का उदय अग्निकाय के जीवों को भी नहीं होता है, क्योंकि इस कर्म का उदय उन्हीं जीवों को होता है, जिनका स्वयं का शरीर ठण्डा हो और उनका प्रकाश उष्ण हो ।

4) उद्योत नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर द्वारा शीत प्रकाश फैलाता हो, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं । इस कर्म का उदय ज्योतिषी विमान के जीवों को होता है । खद्योत व कुछ वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार का होता है ।

देवता तथा लब्धिधारी मुनि जब उत्तर–वैक्रिय शरीर करते हैं, तब उनके शरीर में से ठंडा प्रकाश निकलता है, उसे भी उद्योतनामकर्म का उदय समझना चाहिए ।

5) अगुरुलघु नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव को अति भारी भी नहीं और अति हल्का भी नहीं, ऐसा शरीर प्राप्त हो उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं ।

6) तीर्थंकर नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा त्रिभुवनपूज्य बनता है उसे तीर्थंकर नाम कर्म कहते है । तीर्थंकर बनने वाली आत्मा को ही यह कर्म उदय में आता है । इस कर्म का रसोदय केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ होता है ।

इस कर्म का उदय होने पर आत्मा अष्ट महाप्रातिहार्य आदि से

विभूषित बनती है । समवसरण में बैठकर तीर्थंकर परमात्मा भव्य जीवों को धर्म का बोध देते हैं । देव–देवेन्द्र और चक्रवर्ती भी इनकी पूजा करते हैं ।

7) निर्माण नामकर्म :– शास्त्र में अंगोपांग नामकर्म को नौकर एवं निर्माण नामकर्म को सुथार की उपमा दी है । नौकर तुल्य अंगोपांग नामकर्म अंग, उपांग और अंगोपांग तैयार करता है, परंतु उन अवयवों को व्यवस्थित करने का काम निर्माण नामकर्म करता है ।

8) उपघात नामकर्म :– स्वयं के अवयवों से स्वयं को ही पीड़ा हो, उसे उपघात कहते हैं, उसका कारण उपघात नामकर्म है ।

प्रतिजिह्वा, चौरदाँत (ओठ के बाहर निकले हुए दाँत), लंबिका (छठी अंगुली) आदि स्वयं के अवयवों से जीव स्वयं दुःखी होता है ।

त्रस दशक

1) त्रस नामकर्म :– सुख-दुःख के प्रसंग में जो जीव स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सके, उसे त्रस कहते है । जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस अवस्था की प्राप्ति हो, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं ।

2) बादर नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का एक शरीर या असंख्य शरीरों का पिंड, जो आँख से देख सकते हैं, उसे बादर नामकर्म कहते हैं ।

3) पर्याप्त नामकर्म :– जिस शक्ति विशेष से जीव, पुद्‌गलों को ग्रहण कर उन्हें आहार आदि में परिणत करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं । पर्याप्तियाँ छह हैं–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास, भाषा और मनःपर्याप्ति । एकेन्द्रिय जीव के चार, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के पाँच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के छह पर्याप्तियाँ होती हैं ।

जिस नामकर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने में सक्षम होता है, उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं ।

4) प्रत्येक नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं ।

5) स्थिर नामकर्म :– जिस नामकर्म के उदय से जीव के दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर हो, उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं ।

6) शुभ नामकर्म :– जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव शुभ प्राप्त हो, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं ।

7) सुभग नामकर्म :– जिस नामकर्म के उदय से जीव किसी पर उपकार नहीं करने पर भी और किसी प्रकार का संबंध नहीं होने पर भी सभी को प्रिय लगता हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं ।

8) सुस्वर नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोताओं को प्रिय लगे वैसा हो, उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं ।

9) आदेय नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का कटु वचन भी सर्वत्र आदरपात्र बनता हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं ।

10) यश नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से संसार में सर्वत्र यश और कीर्ति की प्राप्ति हो, उसे यश नामकर्म कहते हैं ।

स्थावर दशक

1) स्थावर नामकर्म :– सुख-दुःख के प्रसंग में जो जीव स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान में न जा सके, उन्हे स्थावर कहते हैं । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय स्थावर हैं । जिस कर्म के उदय से जीव को स्थावरपने की प्राप्ति होती है, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं ।

2) सूक्ष्म नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से असंख्य शरीरों का पिंड होने पर भी जो जीव आँख से दिखाई नहीं देता हो, उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं ।

3) अपर्याप्त नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य

पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ नहीं बनता है, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं ।

4) साधारण नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव को स्वतंत्र शरीर की प्राप्ति नहीं होती है, बल्कि एक ही शरीर में अनंत जीवों के साथ रहना पड़ता है, उसे साधारण नामकर्म कहते हैं ।

5) अस्थिर नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीभ आदि अवयव अस्थिर होते हैं, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ।

6) अशुभ नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा की नाभि के नीचे के अवयव अशुभ माने जाते है, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं ।

7) दुर्भग नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से दूसरों पर उपकार करने पर भी अप्रिय लगता हो, दूसरे जीव वैर–भाव आदि रखते हों, उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं ।

8) दुःस्वर नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और श्रोताओं को अप्रिय लगे वैसा हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं ।

9) अनादेय नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का युक्ति–युक्त वचन भी अप्रिय बनता हो, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं ।

10) अपयश नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से अच्छा काम करने पर भी सर्वत्र अपयश मिलता हो, उसे अपयश नामकर्म कहते हैं ।

इस प्रकार नामकर्म के 42 भेद होते हैं । 93 और 103 भेद की अपेक्षा से 14 पिंड प्रकृति के 65 और 75 भेद होते हैं ।

पिंड प्रकृति के 65 भेद

गति नामकर्म के 4 भेद–

1) देव गति नामकर्म :– उग्र पुण्य के भोग के लिए जीवात्मा को देवलोक में दिव्य सुखवाली अवस्था प्राप्त होती है, उसे देव गति कहते हैं, उसका कारण देवगति नामकर्म है ।

2) मनुष्य गति नामकर्म :– मनुष्यगति नामकर्म के उदय से मनुष्यगति प्राप्त होती है ।

3) तिर्यंच गति नामकर्म :– तिर्यंचगति नामकर्म के उदय से तिर्यंचगति की प्राप्ति होती है ।

4) नरक गति नामकर्म :– नरकगति नामकर्म के उदय से आत्मा को नरकगति की प्राप्ति होती है ।

जाति नामकर्म के 5 भेद–

1) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा को एक ही त्वचा इन्द्रिय की प्राप्ति होती है–जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय के जीव ।

2) द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा को त्वचा और जीभ दो इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । जैसे–कृमि आदि ।

3) त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा को त्वचा, जीभ और नासिका तीन इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । उदाहरण– मकोड़ा आदि ।

4) चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा को त्वचा, जीभ, नासिका और चक्षु इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । उदाहरण–बिच्छू आदि ।

5) पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीवात्मा को त्वचा, जीभ, नासिका, चक्षु तथा कान आदि पाँच इन्द्रियों (पंचेन्द्रियपने) की प्राप्ति होती है । उदाहरण–मनुष्य आदि ।

शरीर नामकर्म के 5 भेद–

1) औदारिक शरीर नामकर्म :– तीर्थंकर–गणधर की अपेक्षा उदार अर्थात् प्रधान तथा वैक्रिय की अपेक्षा स्थूल वर्गणा के पुद्गलों से बना शरीर, औदारिक शरीर कहलाता है । इस शरीर का छेदन–भेदन

हो सकता है, यह शरीर अग्नि से जल सकता है । यह शरीर मनुष्य व तिर्यंचों को होता है ।

2) वैक्रिय शरीर नामकर्म :– विविध रूपों को धारण कर सके, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं । देव व नारक जीवों को भवधारणीय वैक्रिय शरीर होता है, जबकि मनुष्य व तिर्यंच को लब्धि–जन्य वैक्रिय शरीर होता है । औदारिक वर्गणा की अपेक्षा यह शरीर अत्यंत सूक्ष्म होता है ।

3) आहारक शरीर नामकर्म :– आहारक लब्धिधारी चौदह पूर्वधर मुनि, तीर्थंकर की ऋद्धि देखने अथवा अपने प्रश्नों के समाधान के लिए आहारक शरीर बनाते हैं । यह शरीर आहारक वर्गणा के पुद्गलों से बना होता है और एक हाथ प्रमाण होता है । यहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जाकर वापस लौटने में इस शरीर को मात्र अन्तर्मुहूर्त लगता है ।

4) तैजस शरीर नामकर्म :– खाए हुए भोजन को पचाने में कारणभूत शरीर को तैजस शरीर कहते हैं । शरीर में रही जठराग्नि यह तैजस शरीर है । जिस प्रकार अग्नि में मिट्टी के घड़े को पकाने की शक्ति रही हुई है और आग से पकने के बाद ही वह घड़ा पानी भरने के काम में आ सकता है, उसी प्रकार यह शरीर, खाए हुए अन्न को पचाकर उन्हें रक्त आदि के रूप में परिणत करता है ।

मृत्यु पाए हुए व्यक्ति के बाह्य शरीर में से तैजस शरीर के निकल जाने के साथ ही वह शरीर ठंडा पड़ जाता है । उस शरीर में से गर्मी निकल जाती है, उसके बाद उस शरीर को मृत देह घोषित किया जाता है । यह शरीर आत्मा के साथ अनादिकाल से जुड़ा हुआ है और विग्रह गति में भी साथ में रहता है ।

5) कार्मण शरीर नामकर्म :– आत्मा के साथ लगे कर्म–परमाणुओं के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं । पानी व दूध के मिश्रण की तरह ये कर्मवर्गणाएँ आत्मा के साथ एकमेक होकर रहती हैं । यह शरीर भी आत्मा के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है और विग्रह गति में भी आत्मा के साथ रहता है ।

अंगोपांग नामकर्म के 3 भेद–

1) औदारिक अंगोपांग नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर में परिणत पुद्‌गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, उसे औदारिक अंगोपांग नामकर्म कहते हैं ।

2) वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर में परिणत पुद्‌गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, उसे वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म कहते हैं ।

3) आहारक अंगोपांग नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप में परिणत पुद्‌गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं उसे आहारक अंगोपांग नामकर्म कहते हैं ।

बंधन नामकर्म के 5 भेद–

1) औदारिक बंधन नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से पहले ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जा रहे पुद्‌गलों का संबंध होता है, उसे औदारिक बंधन नामकर्म कहते हैं ।

2) वैक्रिय बंधन नामकर्म :– पहले ग्रहण किए वैक्रिय वर्गणा के पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किये जा रहे वैक्रिय वर्गणाओं के पुद्‌गलों का जो संबंध होता है, उसे वैक्रिय बंधन नामकर्म कहते हैं ।

3) आहारक बंधन नामकर्म :– पहले ग्रहण किए आहारक वर्गणा के पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जा रहे आहारक वर्गणाओं के पुद्‌गलों का जो संबंध होता है, उसे आहारक बंधन नामकर्म कहते हैं ।

4) तैजस बंधन नामकर्म :– पहले ग्रहण किए गए तैजस वर्गणा के पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जा रहे तैजस वर्गणा के पुद्‌गलों का जो संबंध होता है, उसे तैजस बंधन नामकर्म कहते हैं ।

5) कार्मण बंधन नामकर्म :– पहले ग्रहण किए कार्मण वर्गणा के पुद्‌गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जा रहे कार्मण पुद्‌गलों का जो संबंध होता है, उसे कार्मण बंधन नामकर्म कहते हैं ।

अन्य अपेक्षा से बंधन नामकर्म के कुल 15 भेद हैं–

1) औदारिक औदारिक बंधन नामकर्म :– औदारिक पुद्‌गलों को नए बँधने-वाले औदारिक पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

2) औदारिक तैजस बंधन नामकर्म :– औदारिक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

3) औदारिक कार्मण बंधन नामकर्म :– औदारिक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

4) औदारिक तैजस कार्मण बंधन नामकर्म :– औदारिक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस–कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

5) वैक्रिय–वैक्रिय बंधन नामकर्म :– वैक्रिय पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले वैक्रिय पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

6) वैक्रिय तैजस बंधन नामकर्म :– वैक्रिय पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

7) वैक्रिय कार्मण बंधन नामकर्म :– वैक्रिय पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

8) वैक्रिय तैजस कार्मण बंधन नामकर्म :– वैक्रिय पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस–कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

9) आहारक आहारक बंधन नामकर्म :– आहारक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले आहारक पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

10) आहारक तैजस बंधन नामकर्म :– आहारक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

11) आहारक कार्मण बंधन नामकर्म :– आहारक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

12) आहारक तैजस कार्मण बंधन नामकर्म :– आहारक पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस–कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

13) तैजस कार्मण बंधन नामकर्म :– तैजस पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

14) तैजस तैजस बंधन नामकर्म :– तैजस पुद्‌गलों को नए बँधनेवाले तैजस पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

15) कार्मण कार्मण बंधन नामकर्म :– कार्मण पुद्‌गलों को नए बँधे जा रहे कार्मण पुद्‌गलों के साथ जोड़ने का काम करता है ।

संघातन नामकर्म के 5 भेद हैं :–

1. औदारिक संघातन नामकर्म : जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परिणत पुद्‌गलों का परस्पर संबंध हो, वह औदारिक संघातन नामकर्म है ।

2. वैक्रिय संघातन नामकर्म : जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप में परिणत पुद्‌गलों का परस्पर संबंध हो, वह वैक्रिय संघातन नामकर्म है ।

3. आहारक संघातन नामकर्म : जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप में परिणत पुद्‌गलों का संबंध हो, वह आहारक संघातन नामकर्म है ।

4. तैजस संघातन नामकर्म : जिसके उदय से तैजस शरीर के रूप में परिणत पुद्‌गलों का संबंध हो, वह तैजस संघातन नामकर्म है ।

5. कार्मण संघातन नामकर्म : जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर रूप में परिणत पुद्‌गलों का परस्पर संबंध हो वह कार्मण संघातन नामकर्म है ।

संघयण नाम कर्म के छह भेद हैं–

1. वज्रऋषभनाराचसंघयण नामकर्म :– वज्र अर्थात् कीली, ऋषभ अर्थात् वेष्टन–पट्टी और नाराच अर्थात् दोनों ओर मर्कट बंध । जिस संघयण में दोनों ओर से मर्कट बंध से बँधी हुई दो हड्डियों को भेदने वाली हड्डी पर तीसरी हड्डी की कील लगी हो, उसे वज्रऋषभ

नाराच कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की इस प्रकार की रचना हो उसे वज्रऋषभनाराच संघयण कहते है ।

2. ऋषभनाराचसंघयण नामकर्म :– जिस रचना विशेष में दोनों ओर हड्डियों का मर्कट बंध हो, तीसरी हड्डी का पट्ट भी हो लेकिन तीनों को भेदने वाली हड्डी की कीली न हो। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की इस प्रकार की रचना हो, उसे ऋषभनाराच संघयण नामकर्म कहते हैं ।

3. नाराचसंघयण नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों ओर मर्कट बंध हों लेकिन पट्ट और कील न हो, उसे नाराचसंघयण नामकर्म कहते हैं ।

4. अर्धनाराचसंघयण नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक मर्कट बंध और दूसरी ओर कील हो, उसे अर्धनाराचसंघयण नामकर्म कहते हैं ।

5. कीलिकासंघयण नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कट बंध और पट्ट न हो किंतु कील से हड्डियाँ जुड़ी हो, उसे कीलिकासंघयण नामकर्म कहते हैं ।

6. सेवार्तसंघयण नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कट बंध, वेष्टन और कील न होकर यो ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हो, उसे सेवार्त संघयण नामकर्म कहते हैं ।

संस्थान नामकर्म के छह भेद हैं–

1. समचतुरस्त्र संस्थान नामकर्म :– सम=समान, चतुर्=चार तथा अस्त्र=कोण। पर्यंकासन में बैठे हुए पुरुष के दो घुटनों का अंतर, बाएँ स्कंध व दाएँ घुटने का अन्तर, दाएँ स्कंध और बाएँ घुटने का अंतर तथा आसन और ललाट का अंतर एक समान हो उसे समचतुरस्त्र संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उद्देश्य से इस प्रकार के संस्थान की प्राप्ति हो, उसे समचतुरस्त्र संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

2. न्यग्रोध परिमंडल संस्थान नामकर्म :– जिस कर्म के उदय

से शरीर की आकृति न्यग्रोध के समान हो अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव व्यवस्थित हो तथा नाभि से नीचे के अवयव हीन हो, उसे न्यग्रोध परिमंडल संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

3. सादि संस्थान नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव हीन हो और नाभि के नीचे के अवयव पूर्ण व्यवस्थित हो, उसे सादि संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

4. कुब्ज संस्थान नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से कुब्ज (कुबड़ा) शरीर प्राप्त हो, उसे कुब्ज संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

5. वामन संस्थान नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से वामन (बौना) शरीर प्राप्त हो, उसे वामन संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

6. हुण्डक संस्थान नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल हो, उसे हुंडक संस्थान नामकर्म कहते हैं ।

वर्ण नामकर्म के 5 भेद :–

1. कृष्ण वर्ण नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला होता है, उसे कृष्ण वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

2. नील वर्ण नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख की तरह हरा हो, उसे नील वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

3. रक्त वर्ण नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव का वर्ण सिंदूर की तरह लाल हो, उसे रक्त वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

4. पीत वर्ण नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी की तरह पीला हो, उसे पीत वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

5. श्वेत वर्ण नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख की तरह सफेद हो, उसे श्वेत वर्ण नामकर्म कहते हैं ।

गंध नामकर्म के 2 भेद :–

1. सुरभिगंध नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कर्पूर व कस्तूरी जैसी सुगंध हो, उसे सुरभिगंध नामकर्म कहते हैं ।

2. दुरभिगंध नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में सड़े–गले पदार्थ जैसी दुर्गंध आती हो उसे दुरभिगंध नामकर्म कहते हैं ।

रस नामकर्म के 5 भेद :–

1. तिक्तरस नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सोंठ अथवा काली मिर्च की तरह चरपरा हो, उसे तिक्त रस नामकर्म कहते हैं ।

2. कटुरस नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर नीम जैसा कटु हो, उसे कटुरस नामकर्म कहते हैं ।

3. कषायरस नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आँवला, बहेड़ा जैसा कसैला हो, उसे कषायरस नामकर्म कहते हैं ।

4. अम्लरस नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर नींबू, इमली जैसा खट्टा हो, उसे अम्लरस नामकर्म कहते हैं ।

5. मधुररस नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मिश्री आदि मीठे पदार्थ जैसा हो, उसे मधुररस नामकर्म कहते हैं ।

स्पर्श नामकर्म के 8 भेद :–

1. गुरुस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे की तरह भारी हो, उसे गुरुस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

2. लघुस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर रुई की तरह हल्का हो, उसे लघुस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

3. मृदुस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन की तरह कोमल हो, उसे मृदुस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

4. कर्कशस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कर्कश हो, उसे कर्कशस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

5. शीतस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बर्फ की तरह ठंडा हो, उसे शीतस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

6. उष्णस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग की तरह उष्ण हो, उसे उष्णस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

7. स्निग्धस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी की तरह स्निग्ध हो, उसे स्निग्धस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

8. रुक्षस्पर्श नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बालू की तरह रूखा हो, उसे रुक्षस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

आनुपूर्वी नामकर्म के 4 भेद :–

1. देवानुपूर्वी नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से आत्मा विग्रहगति द्वारा देव गति में जाती है, उसे देवानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं ।

2. मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से आत्मा विग्रहगति द्वारा मनुष्य गति में जाती है, उसे मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं ।

3. तिर्यंचानुपूर्वी नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से आत्मा विग्रहगति द्वारा तिर्यंचगति में जाती है, उसे तिर्यंचानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं ।

4. नरकानुपूर्वी नामकर्म :– जिस कर्म के उदय से विग्रहगति द्वारा आत्मा नरक गति में जाती है, उसे नरकानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं ।

विहायोगति नामकर्म के 2 भेद :–

1. शुभ विहायोगति :– जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी–बैल की तरह शुभ हो, उसे शुभ विहायोगति कहते हैं ।

2. अशुभ विहायोगति :– जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट–गधे आदि की तरह अशुभ हो, उसे अशुभ विहायोगति कहते हैं ।

ऊपर बताए पिंड प्रकृति के उत्तर भेदों में बंधन नाम कर्म के 5 भेद स्वीकार करने पर 65 भेद होते हैं और 15 भेद स्वीकार करने पर 75 भेद होते हैं ।

गोत्र कर्म

उच्चैर्नीचैश्च ।।8-13।।

सामान्य अर्थ :– गोत्र कर्म के उच्चगोत्र और नीचगोत्र–ये दो भेद हैं ।

विवेचन :– गोत्र कर्म के उदय से जीव उच्चगोत्र और नीचगोत्र में जन्म लेता है । इसके 2 भेद हैं–

1) उच्चगोत्र कर्म :– धर्म और नीति की रक्षा के संबंध से जिन कुलों ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की हो, वे उच्च कुल हैं, जैसे–इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश आदि ।

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है, उसे उच्चगोत्र कर्म कहते हैं ।

2) नीचगोत्र कर्म :– अधर्म और अनीति करने से जिन कुलों ने चिरकाल से अप्रसिद्धि व अपकीर्ति प्राप्त की हो, वे नीच कुल हैं–जैसे मद्यविक्रेता का कुल, वधक (कसाई) का कुल आदि । जिस कर्म के उदय से जीव नीचकुल में जन्म लेता है, उसे नीचगोत्र कर्म कहते हैं ।

सद्धर्म की प्राप्ति में कुल का भी बड़ा महत्त्व है । उच्च कुल में सद्धर्म की प्राप्ति, सद्धर्म की आराधना, भक्ति आदि सुलभ होती है ।

आर्य देश में जन्म लेने पर भी जो नीच कुल में पैदा हुए हों, उन्हें सद्धर्म की आराधना दुर्लभ होती है ।

उच्च गोत्र में पैदा होनेवाले बालकों में जीवदया, अभक्ष्य-त्याग, साधुपुरुषों का संग, दान, परोपकार आदि संस्कार सहज सुलभ होते हैं ।

जिस प्रकार सुवर्ण द्रव्य में स्वाभाविक गुण रहे होते है, उसी प्रकार उच्च गोत्र में भी संस्कारों की प्राप्ति सहज होती है ।

अंतराय कर्म के भेद

दानादीनाम् ।।8–14।।

सामान्य अर्थ :– अन्तराय कर्म के दानांतराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद हैं ।

विवेचन :– जीव को दान आदि की इच्छा पैदा हुई हो तो भी यह अंतराय कर्म उसमें विघ्न डाल देता है ।

अंतराय कर्म के 5 भेद :–

1) दानांतराय :– जिस कर्म के उदय से दान में अंतराय (विघ्न) पैदा हो, उसे दानांतराय कर्म कहते हैं । धन–संपत्ति मिल जाने से व्यक्ति दान नहीं कर पाता है, दान के लिए दानांतराय कर्म का क्षयोपशम चाहिए ।

❑ मम्मण सेठ के पास अपार संपत्ति थी, फिर भी दानांतराय कर्म के उदय के कारण वह किसी भी साधु–संत या याचक को थोड़ा भी दान नहीं कर पाता था ।

2) लाभांतराय :– प्रबल पुरुषार्थ करने पर भी लाभांतराय कर्म के उदय के कारण व्यापार आदि में कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होता है । लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम हो तो अल्प प्रयास से भी अमाप धन–संपत्ति मिल सकती है ।

❑ ऋषभदेव प्रभु को लाभांतराय कर्म का उदय था, अतः उन्हें परिचित क्षेत्र में भी 400 दिनों तक निर्दोष भिक्षा की प्राप्ति नहीं हो पाई थी ।

3) भोगांतराय :– जिस वस्तु का एक ही बार उपभोग किया जा सके, उसे भोग कहते हैं । जैसे–भोजन सामग्री । एक बार खाने पर वह सामग्री पूरी हो जाती है ।

खाने–पीने व भोग की सामग्री उपलब्ध होने पर भी इस कर्म के उदय के कारण व्यक्ति उस सामग्री का भोग नहीं कर पाता है ।

4) उपभोगांतराय :– जिस वस्तु का पुनःपुनः उपभोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं । जैसे–वस्त्र, अलंकार, स्त्री आदि । उपभोग की सामग्री उपलब्ध होने पर भी उपभोगांतराय कर्म के उदय के कारण व्यक्ति उपभोग नहीं कर पाता है ।

5) वीर्यांतराय :– शारीरिक शक्ति, बल, उत्साह आदि को वीर्य कहते हैं । वीर्यांतराय कर्म के उदय के कारण व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से कमजोर होता है । इस कर्म का क्षयोपशम हो तो व्यक्ति बलवान बनता है ।

अंतरायकर्म–बंध के हेतु–

❀ जिनपूजा में अंतराय करने से इस कर्म का बंध होता है ।

❀ जिन–आगमों का लोप करने से, विपरीत प्ररूपणा करने से, शक्ति होने पर भी दीन–दुःखी की उपेक्षा करने से, गरीब व्यक्ति पर गुस्सा करने से, किसी को आहार आदि के भोग में अंतराय करने से, किसी को दान देते हुए रोकने से, पोपट आदि को पिंजरे में बंद करने से, पशु, बालक व दीन आदि को भूखा रखने से अंतराय कर्म का बंध होता है ।

कर्मों का स्थितिबंध

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-
कोटीकोट्यः परा स्थितिः ।।8-15।।
सप्ततिर्मोहनीयस्य ।।8-16।।
नामगोत्रयोर्विंशतिः ।।8-17।।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ।।8-18।।
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ।।8-19।।
नामगोत्रयोरष्टौ ।।8-20।।
शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ।।8-21।।

सामान्य अर्थ एवं विवेचन :– परा (उत्कृष्ट) स्थितिबंध– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोटाकोटि तथा नाम व गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है तथा आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ।

जघन्य स्थितिबंध :– वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबंध 12 मुहूर्त, नाम व गोत्र का 8 मुहूर्त और शेष पाँच प्रकृतियों का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्यस्थितिबंध है ।

कर्मों का स्थिति बंध

कर्म	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
1. ज्ञानावरणीय	30 कोटाकोटि सागरोपम	1 अन्तर्मुहूर्त
2. दर्शनावरणीय	30 कोटाकोटि सागरोपम	1 अन्तर्मुहूर्त
3. वेदनीय	30 कोटाकोटि सागरोपम	12 मुहूर्त
4. मोहनीय	70 कोटाकोटि सागरोपम	1 अन्तर्मुहूर्त
5. आयुष्य	33 सागरोपम	1 अन्तर्मुहूर्त
6. नाम	20 कोटाकोटि सागरोपम	8 मुहूर्त
7. गोत्र	20 कोटाकोटि सागरोपम	8 मुहूर्त
8. अंतराय	30 कोटाकोटि सागरोपम	1 अन्तर्मुहूर्त

कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध 70 कोडाकोड़ी सागरोपम है अर्थात् इतनी स्थिति से अधिक कोई भी कर्म आत्मा के साथ लगा हुआ नहीं रहता है। प्रवाह की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्मबंध अनादि होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा प्रत्येक कर्मबंध की आदि है और उसका अंत भी है।

आबाधाकाल :– कोई भी कर्म अपने बंध के साथ ही उदय में नहीं आता है, बल्कि उसका आबाधाकाल पूर्ण होने पर ही वह कर्म उदय में आता है। उदाहरण–ज्ञानावरणीय कर्म का उत्कृष्ट बंध 30 कोड़ाकोड़ी सागरोपम का हो तो वह कर्म 3000 वर्ष के अबाधा काल के पूर्ण होने पर ही उदय में आता है।

आबाधाकाल

कर्म	उत्कृष्ट आबाधाकाल	जघन्य आबाधाकाल
1. ज्ञानावरणीय	3000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
2. दर्शनावरणीय	3000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
3. वेदनीय	3000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त

4. मोहनीय	7000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
5. आयुष्य	साधिक पूर्व करोड़ वर्ष का तीसरा भाग	अन्तर्मुहूर्त
6. नाम	2000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
7. गोत्र	2000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त
8. अंतराय	3000 वर्ष	अन्तर्मुहूर्त

रसबंध का स्वरूप एवं कर्मों में फल देने की शक्ति

विपाकोऽनुभावः ।।8–22।।

स यथानाम ।।8–23।।

सामान्य अर्थ :– कर्म में रही फल देने की शक्ति (विपाक) उसका रस (अनुभाव) है। सभी कर्मों का विपाक, अपने–अपने नाम के अनुसार है।

विवेचन :– ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में रही फल देने की शक्ति, उनमें रहे रस के आधार पर निर्धारित है। तीव्र रस वाले कर्म में तीव्र फल देने की शक्ति है, मध्यम रस वाले कर्म में मध्यम फल देने की शक्ति है और मंद रसवाले कर्म में मंद फल देने की शक्ति है। सूत्र में निर्दिष्ट शब्द–विपाक, अनुभाव का अर्थ फल, रस है। इनसे अतिरिक्त परिपाक, अनुभाव भी इसी अर्थ वाले हैं।

इन सभी कर्मों में रही फल देने की शक्ति, इनके नाम के अनुरूप है।

ज्ञानावरणीय कर्म में विशेष बोध रूप ज्ञान गुण को ढकने की शक्ति है।

दर्शनावरणीय कर्म में सामान्य बोध रूप दर्शन गुण को ढकने की शक्ति है।

वेदनीय कर्म में सुख–दुःख वेदन कराने की शक्ति है।

मोहनीय कर्म में मोहित–भ्रमित करने की शक्ति है।

आयुष्य कर्म में नरक आदि चार गतियों में जीवन देने एवं उतने काल तक बाँधे रखने की शक्ति है ।

नाम कर्म में शरीर आदि के भिन्न–भिन्न रूप–रंग–आकार आदि देने की शक्ति है ।

गोत्र कर्म में उच्च–नीच कुल में जन्म देने की शक्ति है ।

अंतराय कर्म में दानादि कार्य में विघ्न करने की शक्ति है ।

उपमा के द्वारा इनके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है–

1) ज्ञानावरणीय कर्म :– इस कर्म का स्वभाव आँख पर लगी पट्टी के समान है, जिस प्रकार आँख पर मोटे कपड़े की पट्टी बँधी हुई हो तो बिल्कुल दिखाई नहीं देता है, परन्तु उसी पट्टी में छेद हो जाय अथवा महीन कपड़े की पट्टी हो तो जैसे कुछ–कुछ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण लाता है ।

जिस प्रकार सूर्य पर बादल आ जाने से सूर्य का प्रकाश छिप जाता है, परन्तु नष्ट तो नहीं होता है । बादल हटते ही सूर्य का तेज पुनः प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण आ जाता है, ज्ञानावरणीय कर्म में आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने की ताकत रही हुई है, परन्तु ज्ञान गुण को नष्ट करने की ताकत नहीं है ।

2) दर्शनावरणीय कर्म :– इस कर्म का स्वभाव द्वारपाल के समान है । कोई व्यक्ति राजा से मिलना चाहता हो परन्तु द्वारपाल यदि उसे रोक ले तो वह राजा से मिल नहीं पाता है, उसी प्रकार इस कर्म के उदय से जीव, पदार्थ में रहे सामान्य धर्म को जान नहीं पाता है ।

3) वेदनीय कर्म :– इस कर्म का स्वभाव मधु से लिप्त तलवार की तरह है । मधुलिप्त तलवार को चाटने से मधुर रस के स्वाद का अनुभव होता है, परन्तु तलवार से जीभ कट जाय तो पीड़ा का पार नहीं रहता है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव को बाह्य सुख–दुःख का अनुभव होता है, वह वेदनीय कर्म है । आत्मा में अव्याबाध सुख का

गुण रहा हुआ है, इस कर्म के उदय से आत्मा के उस गुण पर आवरण आ जाता है और आत्मा बाह्य सुख–दुःख का अनुभव करती है ।

4) मोहनीय कर्म :– इस कर्म का स्वभाव मदिरा के समान है, जिस प्रकार मदिरापान से व्यक्ति अपने हित–अहित, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य आदि को जानने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार इस कर्म के उदय से जीव सत्य–असत्य, हित–अहित को समझने में असमर्थ बन जाता है । इस कर्म के उदय से आत्मा में रहे क्षायिक सम्यग्दर्शन और वीतरागता गुण पर आवरण आ जाता है और आत्मा मिथ्यात्व तथा राग–द्वेष के चंगुल में फँस जाती है ।

5) आयुष्य कर्म :– इस कर्म का स्वभाव बेड़ी के समान है । जिस प्रकार चोरी आदि के अपराध के अनुसार न्यायाधीश कानून के अनुसार अलग–अलग सजा करता है और उस सजा के अनुसार कोई कैदी एक वर्ष के लिए, कोई कैदी छह मास के लिए कैद में रहता है, उसी प्रकार इस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य, देव आदि के देह में अमुक काल के लिए कैदी की तरह रहना पड़ता है ।

आत्मा में अक्षय स्थिति नाम का गुण रहा हुआ है, आयुष्य कर्म आत्मा के इस गुण का घात करता है, परिणामस्वरूप आत्मा को नए–नए जन्म, नए–नए देह धारण करने पड़ते हैं ।

6) नाम कर्म :– इस कर्म का स्वभाव चित्रकार की तरह है, जिस प्रकार चित्रकार अपने पास रहे विविध रंगों व ब्रश से विविध चित्र तैयार करता है उसी प्रकार यह नाम कर्म, संसारी जीवों को विविध रूप, आकार, शरीर आदि प्रदान करता है ।

आत्मा का जो अरूपी गुण है, उस गुण पर आवरण लाने का काम यह नामकर्म करता है । आत्मा का मूलभूत स्वभाव अरूपी होने पर भी इस कर्म के उदय के कारण आत्मा विविध रूप धारण करती है ।

7) गोत्र कर्म :– इस कर्म का स्वभाव कुंभकार की तरह है । कुंभकार मिट्टी के विविध प्रकार के घड़े बनाता है, उनमें से कुछ घड़े

पूजादि मांगलिक कार्य में काम लगते हैं तो कुछ घड़ों में शराब आदि भरी जाती है । उसी प्रकार यह कर्म आत्मा को ऊँचा व नीचा स्थान प्रदान करता है ।

आत्मा का मूलभूत स्वभाव अगुरुलघु है, परन्तु इस कर्म के उदय के कारण आत्मा ऊँची–नीची स्थिति प्राप्त करती है ।

8) अंतराय कर्म :– इस कर्म का स्वभाव खजांची की तरह है । जिस प्रकार राजा उदार हो परंतु खजांची प्रतिकूल हो तो राजा द्वारा इनाम की घोषणा हो जाने पर भी व्यक्ति इनाम प्राप्त नहीं कर पाता है । इसी प्रकार यह अंतराय कर्म धनादि की प्राप्ति में अंतराय–विघ्न पैदा करता है ।

आत्मा में अनंत शक्ति रही हुई है, परन्तु यह कर्म उस शक्ति पर आवरण ला देता है ।

निर्जरा का स्वरूप

ततश्च निर्जरा ।।8–24।।

सामान्य अर्थ :– कर्मों का फल देने के बाद उन कर्मों की निर्जरा होती है ।

विवेचन :– 'निर्जरा' अर्थात् आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी धूल का झड़ना ।

अनादिकाल से अपनी आत्मा कर्म के सम्बन्ध में है । अपनी आत्मा निरन्तर सात या आठ कर्मों का बंध कर रही है । इसके साथ प्रतिसमय आठों कर्म उदय में हैं । प्रतिसमय कर्मोदय से क्षीण होनेवाले कर्म अल्प संख्या में हैं और बंध अधिक संख्या में हो रहा है । इस कारण अपनी आत्मा पर कर्म का मैल अत्यधिक चढ़ा हुआ है ।

कोई तालाब पानी से भरा हुआ हो, उसमें नए पानी के आगमन के द्वार बन्द कर दिए हो तो उस तालाब का पानी वैशाख और ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी से भाप बनकर उड़ने लगता है और धीरे–धीरे एक दिन वह तालाब सूख जाता है ।

बस, इसी प्रकार अपनी आत्मा में भी आश्रव–मार्गों के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। संवर द्वारा आश्रवों के उन द्वारों को बन्द कर दिया जाता है और निर्जरा द्वारा सत्तागत कर्मदलिकों को जलाकर नष्ट किया जाता है।

इस संसार–सागर में अपनी आत्मा नाव समान है। आश्रव–द्वार नाव के छिद्र हैं, जिनसे कर्म रूपी पानी आत्मा में प्रवेश करता है, जिससे आत्मा रूपी नाव संकट में आ जाती है। उस समय संवर द्वारा कर्मों के आगमन के द्वारों को बन्द किया जाता है और निर्जरा द्वारा आत्मनाव में आए कर्म रूपी पानी को बाहर फेंका जाता है।

निर्जरा के 2 भेद हैं –

1. विपाकजन्य निर्जरा :– कर्म की स्थिति पूर्ण होने पर स्वाभाविक रूप से आत्मा पर लगे कर्म का उदय होने पर स्वयं क्षय हो जाना, उसे विपाकजन्य निर्जरा कहते हैं। जैसे–स्वाभाविक रूप से आम आदि फल पक कर नीचे गिर जाता है। वैसे ही आत्मा पर लगे कर्म उदय में आकर क्षय हो जाते हैं। परन्तु इसके द्वारा आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उदय के साथ ही प्रति समय नए कर्मों का बंध चालू है।

2. अविपाकजन्य निर्जरा :– कर्म की स्थिति पूर्ण न होने पर भी तप आदि के द्वारा कर्म की उदीरणा करके उनकी स्थिति को कम कर क्षय करना, उसे अविपाकजन्य निर्जरा कहते हैं। जैसे आम आदि फल को पकाने के लिए उसे घास आदि के बीच में रखना। वैसे ही कर्मों की निर्जरा के लिए भोगविलास का त्याग कर, परिषह–उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करना, बारह प्रकार के तप का आचरण करना इत्यादि। इसीसे आत्मा समस्त कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त कर सकती है।

निर्जरा के अन्य 2 भेद हैं :–

1. अकामनिर्जरा :– कर्म के उदय से जन्य दुःख, पीड़ा आदि को अनिच्छा से सहन करना। इसमें निर्जरा अति अल्प होती है।

2. सकामनिर्जरा :– कर्म के उदय से आए हुए दुःख को

इच्छापूर्वक सहन करने पर सकामनिर्जरा होती है तथा इच्छापूर्वक नये–नये कष्टों को खड़ा कर, उन्हें सहन करने से भी सकाम–निर्जरा होती है । इसमें थोड़ा कष्ट हो तो भी निर्जरा अधिक होती है ।

इच्छापूर्वक कष्ट सहन करने में अत्यधिक निर्जरा होती है ।

नरक का जीव अनिच्छा से सौ वर्षों तक भयंकर कष्टों को सहन कर जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उतने कर्मों की निर्जरा इच्छापूर्वक किए गए एक नवकारसी के तप से हो जाती है ।

प्रदेशबंध का स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्राऽवगाढ स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।।8-25।।

सामान्य अर्थ :– जब आत्मा कर्मबंध करती है तब नाम निमित्त से, सभी ओर से, योगविशेष से, सूक्ष्म, एकक्षेत्र–अवगाढ, स्थित, सर्वआत्मप्रदेशों में और अनंतानंत प्रदेशवाले अनंत कर्मस्कंधो का बंध होता है ।

विवेचन :– इस सूत्र में बताए आठ शब्द, प्रदेशबंध के स्वरूप को बताने वाले आठ प्रश्नों के अतिसंक्षेप में बताए उत्तर स्वरूप हैं । आठ प्रश्न और इन आठ उत्तरों का वर्णन इस प्रकार है–

प्रश्न 1. कर्म के बंधसमय आत्मा पर लगनेवाले पुद्गल किसके कारण हैं ?

उत्तर : 'नामप्रत्ययाः' कर्मपुद्गल नाम के कारण हैं–अर्थात् कर्मों के जो–जो नाम हैं, उन–उन नाम के कार्य को वे–वे कर्मपुद्गल करते हैं । ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के नाम, अपने–अपने स्वभाव के अनुसार हैं । जिस समय कर्म के पुद्गल आत्मा से जुड़ते हैं, उसी समय उन कर्मपुद्गलों का स्वभाव निश्चित हो जाता है; जो उन कर्मपुद्गलों के नाम का कारण बनता है । जिन कर्मपुद्गलों का कार्य ज्ञानगुण को आवरण करना है, उन कर्मपुद्गलों का नाम ज्ञानावरणीय निश्चित होता जाता है । इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि कर्मों का भी नाम कर्मबंध के समय निश्चित हो जाता है ।

जिस प्रकार संसारी आत्मा का ही नाम संभवित है, जिस आत्मा का मोक्ष हो गया हो, उसका कोई नाम नहीं होता है । उसी प्रकार कर्मपुद्गलों का होना, आत्मा के साथ जुड़ना कर्मपुद्गल के नाम का कारण है । यदि कर्मपुद्गल ही न होते, तो उनका नाम आदि संभवित ही नहीं है ।

इस प्रकार का अर्थ सूत्र में बताए पहले शब्द–**'नामप्रत्ययाः'** से मिलता है ।

प्रश्न 2. कर्मबंध करनेवाला जीव कर्म के पुद्गलों को एक दिशा से ग्रहण करता है या सभी दिशाओं से ग्रहण करता है ?

उत्तर : 'सर्वतो' सभी दिशाओं से–अर्थात् कर्मबंध करनेवाला जीव कर्म के पुद्गलों को सभी–दस दिशाओं से ग्रहण करता है । चार दिशा, चार विदिशा, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा–ये दस दिशाएँ हैं ।

इस प्रकार का अर्थ सूत्र में बताए दूसरे शब्द–**'सर्वतो'** से मिलता है ।

प्रश्न 3. कर्मबंध करते समय क्या सभी जीवों के एक समान कर्मपुद्गलों का बंध होता है अथवा किसी निमित्त से असमान होता है ?

उत्तर : 'योगविशेषात्' योग के निमित्त से असमान कर्मबंध होता है । सभी जीवों की अपेक्षा से किसी एक विवक्षित समय में सभी जीवों को एक समान ही कर्मबंध हो, ऐसा नियम नहीं है । कर्म का बंध मन–वचन–काया रूप योग के आधार पर है । जिन जीवों का योग एक समान होता है, उन जीवों का कर्मबंध एक समान होता है और जितने अंश में योग में भेद होता है, उतने अंश में कर्मबंध में भेद होता है ।

एक जीव की अपेक्षा से–किसी एक जीव को प्रति समय एक समान ही कर्मबंध हो, ऐसा नियम नहीं है । जीव का योग प्रत्येक समय एक समान नहीं होता है । वीर्यव्यापार प्रत्येक समय बदलता रहता है । जिस समय योग अधिक हो, उस समय पुद्गलों का ग्रहण अधिक होता

है और जिस समय योग न्यून हो, उस समय पुद्गलों का ग्रहण न्यून होता है। कभी भी योग हमेशा एक जैसा नहीं होता है। आठ समय बाद योग बदलता रहता है। इसलिए प्रत्येक समय एक समान पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है। आत्मा के अपने योग के अनुसार प्रदेशबंध होता है।

इस प्रकार का अर्थ सूत्र में बताए तीसरे शब्द **'योगविशेषात्'** से मिलता है।

प्रश्न 4. जिन कर्मपुद्गलों का ग्रहण आत्मा करती है, वे सूक्ष्म हैं या स्थूल हैं ?

उत्तर : 'सूक्ष्म' जीव कार्मणवर्गणा के सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। पूरे चौदह राजलोक में सर्वत्र अनेक प्रकार के सूक्ष्म पुद्गल व्याप्त हैं। परंतु वे सभी पुद्गल कर्मरूप नहीं बन सकते हैं। जो पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म हों वे पुद्गल ही कर्म रूप बन सकते हैं। उन पुद्गलों के समूह को ही कार्मण वर्गणा कहते है।

इस प्रकार का अर्थ हमें सूत्र में बताए चौथे शब्द **'सूक्ष्म'** से मिलता है।

प्रश्न 5. ग्रहण किये जानेवाले कर्मपुद्गल कहाँ रहे हुए है ?

उत्तर : 'एकक्षेत्रावगाढ' ग्रहण किये जाने वाले कर्मपुद्गल एक क्षेत्र में रहे हुए हैं अर्थात् जीव सर्वत्र रहे कार्मण पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता है, परंतु जितने स्थान में अपनी आत्मा के आत्मप्रदेश रहे हों उतने ही स्थान के कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करती है।

जिस प्रकार अग्नि जितने स्थान में रही हो उतने ही स्थान में रही वस्तु को जलाने का काम करती है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं के स्थान में रहे कर्मपुद्गलों को ही ग्रहण करती है अन्य स्थान में रहे कर्मपुद्गलों को नहीं।

इस प्रकार का अर्थ हमें सूत्र में बताए पाँचवें शब्द **'एक–क्षेत्रावगाढ'** से मिलता है।

प्रश्न 6. ग्रहण करने योग्य कर्मपुद्गल गतिमान होते हैं या स्थित होते हैं ?

उत्तर : 'स्थिताः' स्थित कर्म पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करती है। जो पुद्गल गतिमान हों ऐसे कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को जीव ग्रहण नहीं करता है, बल्कि जो गतिरहित–स्थित पुद्गल हों उन्हें जीव ग्रहण करता है ।

इस प्रकार का अर्थ हमें सूत्र में बताए छठे शब्द–**'स्थिताः'** से मिलता है ।

प्रश्न 7. ग्रहण किये जानेवाले कर्मपुद्गलों का आत्मा के कुछ प्रदेशों के साथ ही संबंध होता है या सभी प्रदेशों के साथ होता है ?

उत्तर : 'सर्वात्मप्रदेशेषु' कर्मपुद्गलों का संबंध सभी आत्म–प्रदेशों के साथ होता है। परंतु सभी प्रदेशों के साथ एक समान सम्बन्ध नहीं होता है। कुछ प्रदेशों के साथ सम्बन्ध अधिक होता है तो कुछ प्रदेशों के साथ न्यून सम्बन्ध होता है ।

जैसे रेलगाड़ी में रहे सभी डिब्बे एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। जब उन डिब्बों के साथ ईंजन जुड़ता है, तब सभी डिब्बे चलते हैं। अथवा श्रृंखला (चेन) में सभी कड़ियाँ परस्पर जुड़ी होने से एक कड़ी के चलने पर सभी कड़ियों में चलन होता है ।

वैसे ही जीव के सभी प्रदेश परस्पर जुड़े हुए हैं। कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते समय सभी प्रदेशों से व्यापार होता है, कुछ प्रदेशों का व्यापार अधिक होता है, कुछ का न्यून और कुछ का न्यूनतर होता है। प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्मग्रहण का व्यापार होने से सभी आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध होता है ।

इस प्रकार का अर्थ सूत्र में बताए सातवें शब्द **'सर्वात्मप्रदेशेषु'** से मिलता है ।

प्रश्न 8. कर्मबंध के समय आत्मा द्वारा एक बार में कितने प्रदेशवाले स्कंधों का ग्रहण होता है ?

उत्तर : 'अनन्तानन्तप्रदेशाः' कर्मबंध के समय आत्मा द्वारा एक बार में अनन्तानन्त कार्मणवर्गणा के प्रदेशवाले स्कंधों का ग्रहण होता है। प्रदेशबंध में आत्मा द्वारा कभी भी एक–दो–तीन ऐसे पुद्गलों का बंध नहीं होता है, यावत् संख्य और असंख्य का भी बंध नहीं होता है परंतु अनन्त समूहों का ही बंध होता है। एक–एक समूह में अनंत कर्माणु होते हैं।

इस प्रकार का अर्थ सूत्र में बताए आठवें शब्द **'अनन्तानन्त प्रदेशाः'** से मिलता है।

पुण्य प्रकृति

सद्वेद्य–सम्यक्त्व–हास्य–रति–पुरुषवेद–शुभायुर्नाम–गोत्राणि पुण्यम् ॥8-26॥

सामान्य अर्थ :– साता वेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयुष्य, शुभनाम, शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृति हैं।

विवेचन :– सामान्य से जो आत्मा को पावन करे, वह पुण्य है। परंतु यहाँ पुण्य का अर्थ–जो आत्मा को प्रीति उत्पन्न करे, वह पुण्य है।

इस अपेक्षा से–वेदनीय कर्म की 1) साता वेदनीय कर्म।

मोहनीय कर्म की 1) सम्यक्त्व मोहनीय 2) हास्य, 3) रति, 4) पुरुषवेद कर्म।

आयुष्य कर्म की 1) मनुष्य और 2) देव आयुष्य कर्म।

नाम कर्म की :– 1) मनुष्य गति, 2) देव गति, 3) पंचेन्द्रिय जाति, 4) औदारिक शरीर, 5) वैक्रिय शरीर, 6) आहारक शरीर, 7) तेजस शरीर, 8) कार्मण शरीर, 9) औदारिक अंगोपांग, 10) वैक्रिय अंगोपांग, 11) आहारक अंगोपांग, 12) व्रजऋषभनाराच संघयण, 13) समचतुरस्त्र संस्थान, 14) शुभ वर्ण, 15) शुभ गंध, 16) शुभ रस, 17) शुभ स्पर्श, 18) मनुष्यानुपूर्वी, 19) देवानुपूर्वी, 20) शुभविहायोगति, 21) पराघात, 22) श्वासोच्छ्वास, 23) आतप, 24) उद्योत, 25) अगुरुलघु, 26) तीर्थंकर, 27) निर्माण, 28) त्रस, 29) बादर, 30) पर्याप्त, 31) प्रत्येक, 32) स्थिर, 33) शुभ, 34) सौभाग्य, 35) सुस्वर, 36) आदेय,

37) यश नाम कर्म प्रकृति ।

गोत्र कर्म की 1) उच्च गोत्र कर्म ।

इस प्रकार वेदनीय कर्म की 1, मोहनीय कर्म की 4 , आयुष्य कर्म की 2 , नाम कर्म की 37 और गोत्र कर्म की 1 (सभी मिलाकर 45 प्रकृतियाँ) पुण्य प्रकृति हैं ।

इनसे अतिरिक्त ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9, वेदनीय की 1, मोहनीय की 24, आयुष्य की 2, नाम की 34, गोत्र की 1 और अंतराय की 5 (सभी मिलाकर 81 प्रकृतियाँ) पाप प्रकृति हैं । उदय की अपेक्षा से 122 प्रकृतियों में से पुण्य की 45 कम करने और अशुभ वर्ण–गंध–रस–स्पर्श को जोडने से ये 81 प्रकृतियाँ होती है । इनमें नाम कर्म की 67 प्रकृति के साथ वर्णादि को शुभ–अशुभ दोनों प्रकार से गणना होने से 67 + 4 = 71 प्रकृति होती है ।

नवतत्त्व एवं कर्मग्रंथ की अपेक्षा पुण्य की 42 प्रकृति मानी गई है । वहाँ पुण्य और पाप की व्याख्याएँ तत्त्वार्थ की अपेक्षा भिन्न हैं । तिर्यंच आयुष्य प्रीति उत्पन्न नहीं करने के कारण उसे पाप प्रकृति में गिना गया है । जबकि मोहनीय कर्म घाति होने पर भी सम्यक्त्व मोहनीय , हास्य , रति और पुरुषवेद प्रीति उत्पादक होने से पुण्यरूप में गिना गया है ।

कर्मबंध (सूत्र 1,2,3)

कषाय के कारण जीव, कर्म के पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है ।

5 हेतु

- **मिथ्यात्व**
  1) आभिग्रहिक
  2) अनाभिग्रहिक
  3) आभिनिवेशिक
  4) सांशयिक
  5) अनाभोगिक
- **अविरति**
  पाप के त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव
- **प्रमाद**
  1) मद्य
  2) विषय
  3) कषाय
  4) निद्रा
  5) विकथा
- **कषाय**
  1) क्रोध
  2) मान
  3) माया
  4) लोभ
- **योग**
  1) मन
  2) वचन
  3) काया

कर्मबंध के मुख्य 4 भेद

- **प्रकृति (सूत्र 5,6)**
  - **ज्ञानावरण (5) (सूत्र 7)**
    1) मतिज्ञानावरण
    2) श्रुतज्ञानावरण
    3) अवधि ज्ञानावरण
    4) मन:पर्यवज्ञानावरण
    5) केवल ज्ञानावरण
  - **दर्शनावरण (9) (सूत्र 8)**
    1) चक्षु दर्शनावरण
    2) अचक्षु दर्शनावरण
    3) अवधि दर्शनावरण
    4) केवल दर्शनावरण
    5) निद्रा वेदनीय 6) निद्रा-निद्रा वेदनीय
    7) प्रचला वेदनीय 8) प्रचला-प्रचला वेदनीय
    9) स्त्यानगृद्धि वेदनीय
  - **वेदनीय (2) (सूत्र 9)**
    1) साता
    2) असाता
  - **मोहनीय (28) (सूत्र 10)**
    - **दर्शन**
      1) सम्यक्त्व
      2) मिथ्यात्व
      3) मिश्र
    - **चारित्र**
      - 16 कषाय
        1) क्रोध 2) मान 3) माया 4) लोभ
        1) अनंतानुबंधी 2) अप्रत्याख्यान 3) प्रत्याख्यान 4) संज्वलन
      - 9 नोकषाय
        1) हास्य 2) रति 3) अरति 4) शोक 5) भय 6) जुगुप्सा 7) स्त्रीवेद 8) पुरुषवेद 6) नपुंसकवेद
  - **आयुष्य (4) (सूत्र 11)**
    1) नारक 2) मनुष्य 3) तिर्यंच 4) देव
  - (नाम, गोत्र, अंतराय अगले पृष्ट पर)
- **स्थिति**
- **रस**
- **प्रदेश**

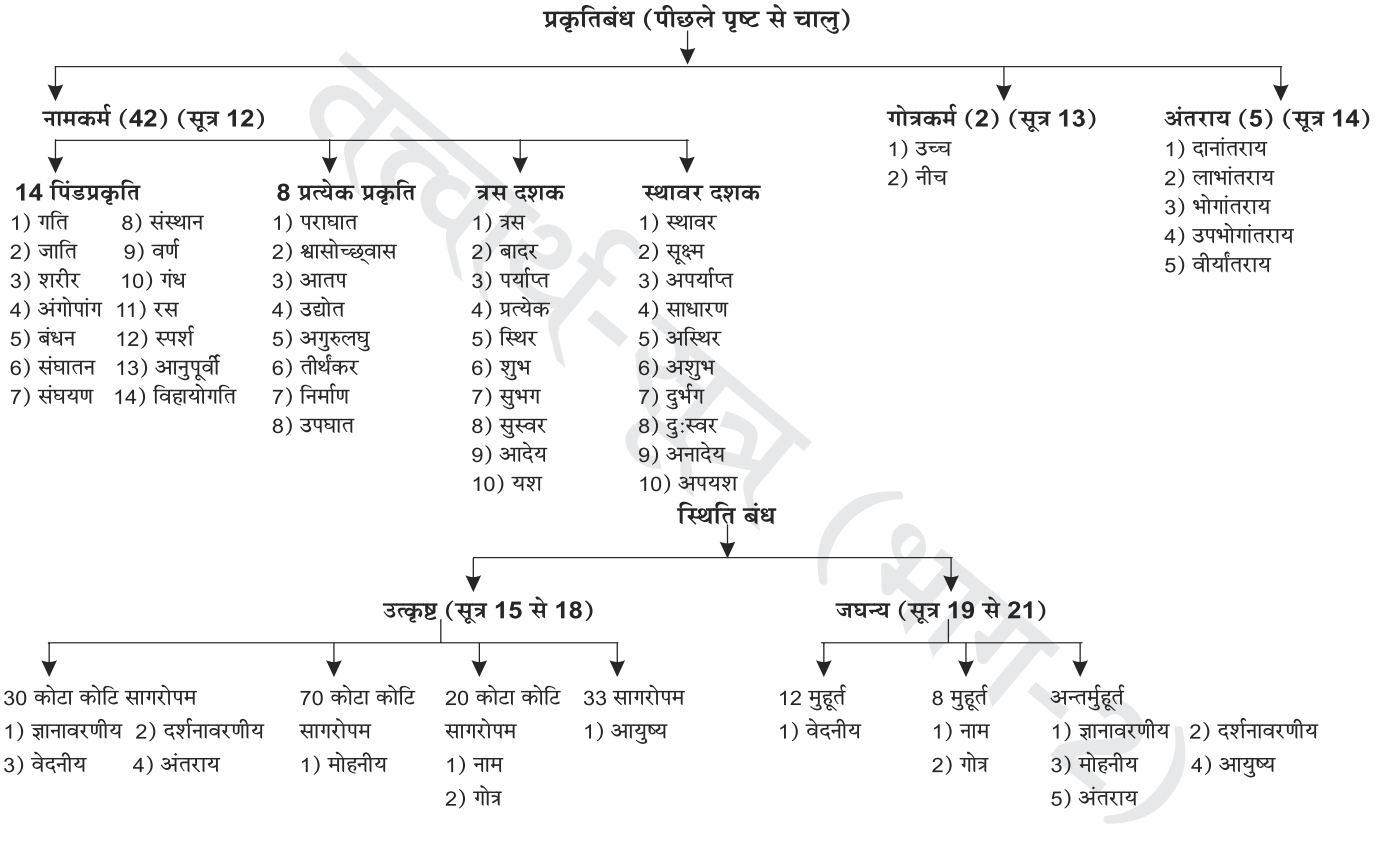
प्रकृतिबंध (पीछले पृष्ट से चालु)
नामकर्म (42) (सूत्र 12)
14 पिंडप्रकृति
1) गति
2) जाति
3) शरीर
4) अंगोपांग
5) बंधन
6) संघातन
7) संघयण
8) संस्थान
9) वर्ण
10) गंध
11) रस
12) स्पर्श
13) आनुपूर्वी
14) विहायोगति
8 प्रत्येक प्रकृति
1) पराघात
2) श्वासोच्छ्वास
3) आतप
4) उद्योत
5) अगुरुलघु
6) तीर्थंकर
7) निर्माण
8) उपघात
त्रस दशक
1) त्रस
2) बादर
3) पर्याप्त
4) प्रत्येक
5) स्थिर
6) शुभ
7) सुभग
8) सुस्वर
9) आदेय
10) यश
स्थावर दशक
1) स्थावर
2) सूक्ष्म
3) अपर्याप्त
4) साधारण
5) अस्थिर
6) अशुभ
7) दुर्भग
8) दुःस्वर
9) अनादेय
10) अपयश
गोत्रकर्म (2) (सूत्र 13)
1) उच्च
2) नीच
अंतराय (5) (सूत्र 14)
1) दानांतराय
2) लाभांतराय
3) भोगांतराय
4) उपभोगांतराय
5) वीर्यांतराय
स्थिति बंध
उत्कृष्ट (सूत्र 15 से 18)
30 कोटा कोटि सागरोपम
1) ज्ञानावरणीय
2) दर्शनावरणीय
3) वेदनीय
4) अंतराय
70 कोटा कोटि सागरोपम
1) मोहनीय
20 कोटा कोटि सागरोपम
1) नाम
2) गोत्र
33 सागरोपम
1) आयुष्य
जघन्य (सूत्र 19 से 21)
12 मुहूर्त
1) वेदनीय
8 मुहूर्त
1) नाम
2) गोत्र
अन्तर्मुहूर्त
1) ज्ञानावरणीय
2) दर्शनावरणीय
3) मोहनीय
4) आयुष्य
5) अंतराय

रसबंध (सूत्र 22, 23)

स्व-स्व नाम के अनुसार सभी कर्म की फल देने की शक्ति है ।

ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुष्य	नाम	गोत्र	अंतराय
ज्ञान गुण पर आवरण	दर्शन गुण पर आवरण	अव्याबाध सुख पर रोक	सम्यग्दर्शन एवं वीतरागता पर घात	अक्षय स्थिति गुण पर रोक	अरुपी गुण पर रोक	अगुरुलघु स्वभाव पर रोक	अनंतशक्ति पर घात
आंख पर लगी पट्टी के समान	द्वारपाल के समान	मधु से लिप्त तलवार समान	मदिरापान के समान	बेडी के समान	चित्रकार के समान	कुंभकार के समान	खजांची के समान

निर्जरा (सूत्र 24)

आत्मा पर लगी हुई कर्म रुपी धूल का झडना

1) विपाक जन्य निर्जरा
2) अविपाक जन्य निर्जरा

1) अकाम निर्जरा
2) सकाम निर्जरा

प्रदेश बंध (सूत्र 25)

नाम प्रत्यय
कर्म पुद्गलों का होना उनके नाम का कारण है ।

सर्वतो
सभी दिशा से आत्मा कर्म पुद्गलों का ग्रहण करती है ।

योग विशेषात्
कर्म का बंधन मन-वचन-काया के आधार पर है ।

सूक्ष्म
जीव कार्मण वर्गणा के सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करता है ।

एक क्षेत्रावगाढ
ग्रहण किये जाने वाले कर्मपुद्गल एक क्षेत्र में रहे हुए है ।

स्थिता
स्थित कर्म पुद्गलों को ही आत्मा ग्रहण करती है ।

सर्वात्मप्रदेशेषु
कर्म पुद्गलों का संबंध सभी आत्मप्रदेशों के साथ होता है ।

अनन्तानन्तप्रदेशा:
कर्म बन्ध के समय आत्मा एक बार में अनन्तानन्त प्रदेश वाले स्कंधो को ग्रहण करती है ।

पुण्य प्रकृति (सूत्र 26)

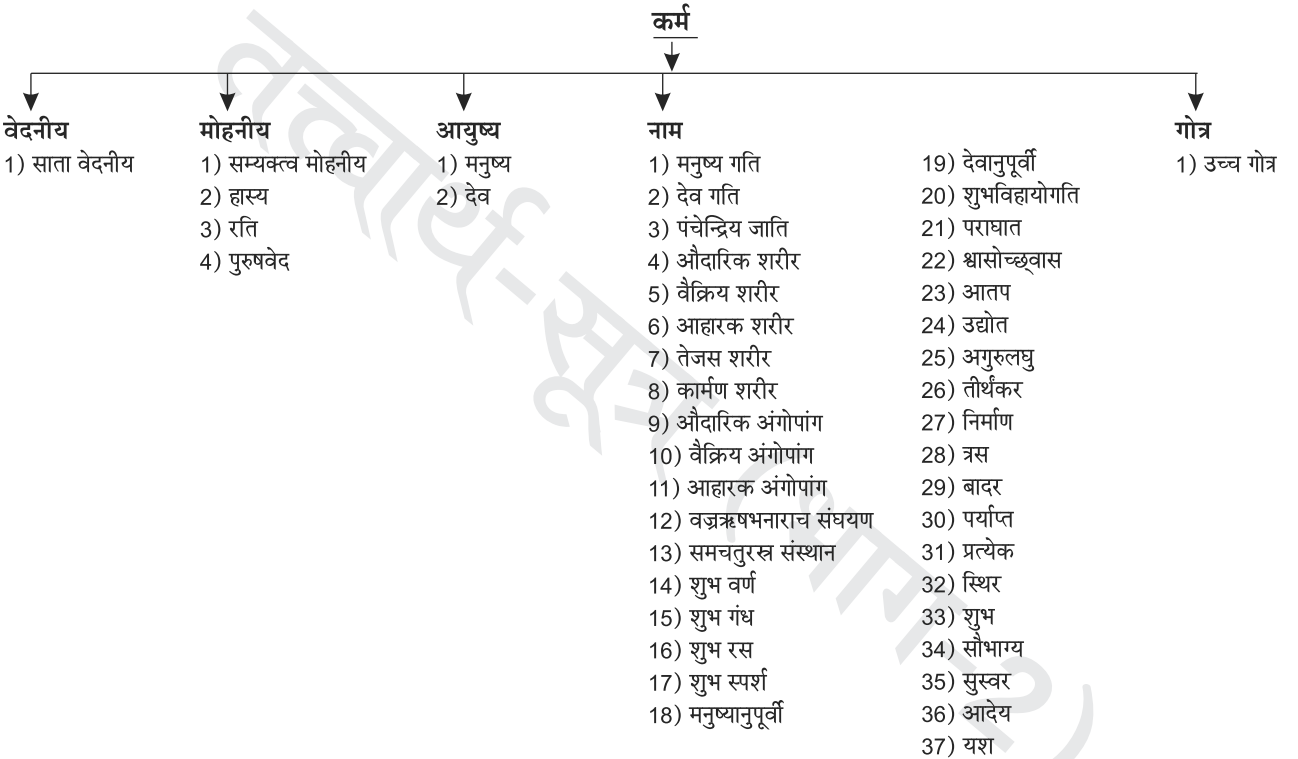

नौवाँ अध्याय

इस अध्याय में संवर और निर्जरा का स्वरूप बताया है । संवर के जो भी कारण हैं, वे निर्जरा के भी कारण हैं । अतः आस्त्रव के त्याग रूप जो संवर है वही चारित्र है और उससे निर्जरा भी होती है । इसलिए इस अध्याय में संवर और निर्जरा का स्वरूप बताया है ।

संवर का स्वरूप

आश्रवनिरोधः संवरः ।।9-1।।

सामान्य अर्थ :– आश्रवद्वारों को रोकना संवर है ।

विवेचन :– आत्मा में कर्म के आगमन के द्वार को आश्रव कहते हैं । उन द्वारों को जिनसे रोका जाता है, उन्हें संवर कहते हैं ।

जैसे नाव में छिद्र के द्वारा जल प्रवेश करता हो तो नाव को बचाने के लिए सर्वप्रथम छिद्रों को बंद करना जरुरी है । वैसे ही आत्मा में जिन मार्गों से कर्मों का आगमन होता हो, उन मार्गों को रोकना अत्यंत जरुरी है । उन मार्गों को रोकना संवर है ।

संवर के मुख्य दो भेद हैं–

1) सर्वसंवर :– सभी प्रकार के आश्रव का अभाव सर्वसंवर है । यह स्थिति मात्र चौदहवें गुणस्थानक में होती है ।

2) देशसंवर :– कुछ आश्रवों का अभाव देशसंवर है । चौदहवें गुणस्थानक के नीचे के गुणस्थानकों पर देशसंवर की स्थिति होती है ।

सर्वसंवर की स्थिति पाने के लिए देशसंवर आवश्यक है अर्थात् देशसंवर में प्रयत्न करने से ही आत्मा सर्वसंवर की स्थिति प्राप्त कर सकती है । अतः सबसे पहले देशसंवर में प्रयत्न करने के लिए इस अध्याय में उसके स्वरूप का वर्णन किया है ।

है । बिन जरूरी प्रवृत्तियों का त्याग करना निवृत्ति है और जरूरत पड़ने पर विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करना सम्यक्प्रवृत्ति है ।

योग के तीन भेद होने से गुप्ति के भी तीन भेद हैं–

1) मनोगुप्ति, 2) वचनगुप्ति, 3) कायगुप्ति ।

1) मनोगुप्ति :– मन की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करना और शुभ में प्रवृत्ति करना मनोगुप्ति है । ***समिति में सम्यक् आचरण की मुख्यता है और गुप्ति में अप्रशस्त के निरोध की मुख्यता है ।***

मनोगुप्ति के तीन प्रकार हैं–

(1) अकुशल निवृत्ति :– आर्त्त और रौद्रध्यान के विचारों का त्याग करना **'अकुशल निवृत्ति'** मनोगुप्ति है ।

(2) कुशल प्रवृत्ति :– धर्मध्यान और शुक्लध्यान में मन का प्रवर्तन करना, कुशल प्रवृत्ति मनोगुप्ति है ।

(3) योगनिरोध :– मन की कुशल–अकुशल सर्व प्रवृत्ति का निरोध करना, योगनिरोध मनोगुप्ति है, जो चौदहवें गुणस्थानक में होती है ।

2) वचनगुप्ति :– सावद्य वचन का त्याग कर, अनिवार्य परिस्थिति में हितकारी व निरवद्य वचन बोलना, इसे वचनगुप्ति कहते हैं ।

वचन गुप्ति के दो प्रकार हैं–

(1) मौनावलंबिनी वचनगुप्ति :– शिरकम्पन, हस्तचालन तथा संकेत आदि का त्याग करना मौनावलंबिनी वचनगुप्ति है ।

(2) वाग्नियमिनी वचनगुप्ति :– वाचना आदि के विशेष प्रसंग में यतनापूर्वक बोलना, वाग्नियमिनी वचनगुप्ति है ।

3) कायगुप्ति :– काया द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ में प्रवृत्ति कायगुप्ति है ।

काय गुप्ति के दो प्रकार हैं–

(1) चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति :– उपसर्ग आदि के प्रसंगों में भी काया को चलित न करना, चेष्टा निवृत्ति रूप कायगुप्ति है ।

उपर्युक्त पाँच समिति और तीन गुप्ति ही चारित्राचार के आठ भेद और अष्टप्रवचन माताएँ हैं । व्यवहार में माता ही पुत्र को जन्म देकर पालन–पोषण करती है । वैसे ही पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्टप्रवचन माता, संयम रूपी पुत्र को जन्म देती है । संयम जीवन का संपूर्ण रक्षण इन अष्टप्रवचन माता के पालन में है ।

धर्म का स्वरूप

उत्तमः क्षमा–मार्दवा–ऽऽर्जव–शौच–सत्य–संयम–तपस्त्यागा–ऽऽकिञ्चन्य–ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।।9–6।।

सामान्य अर्थ :– उत्कृष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच,सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के यति धर्म हैं ।

विवेचन :– साधु धर्म और श्रावक धर्म रूपी धर्म के दो भेदों में क्षमा आदि यति धर्म, साधु धर्म की मुख्यता से होने के कारण सूत्र में **'उत्तम'** शब्द का प्रयोग किया है । उत्कृष्ट क्षमा साधुओं को होती है, जबकि श्रावकों की क्षमा सामान्य होती है ।

1) क्षमा :– क्रोध के प्रसंग में भी क्रोध नहीं करना, चित्त को शान्त और स्थिर रखना क्षमा धर्म है । इस क्षमा के 5 भेद हैं–

(1) उपकार क्षमा :– किसी ने अपने ऊपर उपकार किया हो और वह व्यक्ति अपने पर गुस्सा करे तो यह सोचकर उसके गुस्से को सहन करना, कि **'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो यह व्यक्ति मुझ पर उपकार नहीं करेगा' यह 'उपकार क्षमा'** है ।

(2) अपकार क्षमा :– किसी ने अपने ऊपर गुस्सा किया हो तब यह सोचकर उस गुस्से को सहन कर ले कि **'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो मुझे मारपीट आदि सहन करनी पड़ेगी, अतः मौन रहना उचित है' यह 'अपकार क्षमा'** है ।

(3) विपाक क्षमा :– 'यदि मैं गुस्सा करूंगा तो इससे मुझे कर्मबंध हो जाएगा... मुझे बुरे परिणाम भोगने पडेंगे' ऐसा सोचकर

5) सत्य :– आवश्यकता होने पर स्वयं और अन्य को हितकारी, प्रिय, पथ्य, सत्य और प्रमाणोपेत आदि गुणों से युक्त वचन बोलना सत्य है ।

6) संयम :– आत्म–गुणों के विकास के लिए चारित्रधर्म की आराधना करना संयम कहलाता है । इसके सत्रह भेद हैं–

5 महाव्रतों का पालन, 5 इन्द्रिय निग्रह, 4 कषाय जय, 3 योग से निवृत्ति ।

पाँच महाव्रतों का पालन :–

1) सर्वथा प्राणातिपात विरमण महाव्रत :– मन, वचन, काया से हिंसा नहीं करना, दूसरों से हिंसा नहीं करवाना और हिंसा करते हुए की अनुमोदना नहीं करना ।

2) सर्वथा मृषावाद विरमण महाव्रत :– मन, वचन, और काया से झूठ नहीं बोलना, दूसरों से नहीं बुलवाना और झूठ बोलने वाले की अनुमोदना नहीं करना ।

3) सर्वथा अदत्तादान विरमण महाव्रत :– मन,वचन और काया से चोरी नहीं करना, दूसरों से नहीं करवाना और चोरी करने वाले की अनुमोदना नहीं करना ।

4) सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से मैथुन का सेवन नहीं करना, दूसरों से नहीं करवाना और करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना ।

5) सर्वथा परिग्रह विरमण महाव्रत :– मन, वचन और काया से परिग्रह धारण नहीं करना, नहीं करवाना और परिग्रह धारण करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करना ।

पाँच इन्द्रिय निग्रह :–

6) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह :– निन्दा, अश्लील गीत आदि के श्रवण का त्याग करना ।

8) त्याग :– बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार की उपधि में मूर्च्छा का त्याग करना, त्याग धर्म है। अन्न–पान अथवा रजोहरण आदि बाह्य उपधि है और शरीर अथवा क्रोधादि कषाय आदि अभ्यंतर उपधि है।

9) आकिंचन्य :– आकिंचन्य अर्थात् किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखना। वास्तव में वस्तु का पास में होना परिग्रह नहीं है, वस्तु के प्रति ममत्व भाव रखना परिग्रह है। इस अपेक्षा से साधु अपने संयमजीवन की रक्षा के लिए संयम के उपकरण रखते हैं, फिर भी उनमें ममत्व का त्याग करते हैं। शरीर एवं उपकरणों पर ममत्व का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है।

10) ब्रह्मचर्य :– मैथुन का त्याग कर आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य धर्म है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, चर्य अर्थात् रमण करना। आत्मभाव में रमणता के लिए इष्ट पदार्थ के राग का और अनिष्ट पदार्थ के द्वेष का त्याग जरूरी है। फिर भी यहाँ ब्रह्मचर्य शब्द से मैथुन का त्याग अपेक्षित है। इस व्रत के पालन हेतु नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति तथा ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओं का पालन जरूरी है।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ–

(1) संसक्त वसति का त्याग :– जिस स्थान में स्त्री, पशु अथवा नपुंसक रहते हों, उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए।

(2) स्त्रीकथा त्याग :– स्त्री के रूप–लावण्य आदि बातों का त्याग करना चाहिए।

(3) निषद्या त्याग :– जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर पुरुष को 48 मिनिट नहीं बैठना चाहिए और जिस स्थान पर पुरुष बैठा हो, उस स्थान पर स्त्री को 3 प्रहर नहीं बैठना चाहिए।

(4) अंगोपांग दर्शन त्याग :– राग के वश होकर विजातीय के अंग–उपांग आदि देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(5) संलग्न दीवाल में रहे दम्पती वाले स्थान का त्याग :– जिस दीवाल की पीछे दम्पती रहते हो, उस स्थान में रहने से

भावना, 11) बोधिदुर्लभ भावना, 12) धर्मस्वाख्यात भावना इन बारह भावनाओं से तत्त्वचिंतन करना अनुप्रेक्षा है ।

विवेचन :– दु:खमय संसार के प्रति तो जीवमात्र को वैराग्य होता है, परंतु सुखमय संसार सभी जीवों को पसंद पड़ता है, जबकि सुखमय संसार का राग और दु:खमय संसार का द्वेष ही आत्मा को संसार में भटकाता है । अनादिकाल से आत्मा में संसार के क्षणिक सुखों के प्रति तीव्र राग भाव रहा होने के कारण उस सुखमय संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा करना बहुत कठिन है ।

सुखमय संसार के रागभाव को तोड़ने के लिए ही तारक परमात्मा ने अनित्य आदि भावनाएँ बतलाई हैं । उन अनित्य आदि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने से संसार के सुख का राग स्वत: घटता जाता है ।

1) अनित्य भावना :– अपना शरीर, धन, यौवन तथा कुटुंब–परिवार आदि सब अनित्य हैं–नाशवंत हैं–क्षणभंगुर हैं, इस प्रकार का चिंतन करना, उसे अनित्य भावना कहते हैं ।

संसारी जीव धन–पुत्र–परिवार आदि के नाश को देख विषादग्रस्त बनता है, शोकातुर बनता है, जबकि धर्मी आत्मा उन पदार्थों का विनाश देखकर आर्तध्यान नहीं करती है ।

पानी में पैदा होनेवाले जलतरंग की भाँति यह लक्ष्मी अत्यंत ही चपल अर्थात् चंचल है । सदैव स्थिर रहना, यह धन का स्वभाव ही नहीं है तो ऐसे धन को पाकर क्या गर्व करना अथवा ऐसे धन के वियोग में क्या शोक करना?

संसार के सारे संबंध स्वप्न तुल्य हैं । स्वप्न में सारे संबंध दिखते हैं, परंतु आँख खुलते ही सब अदृश्य हो जाते हैं । बस, इसी प्रकार संसार के संबंध भी स्वप्न तुल्य होने से उन संबंधों के संयोग में राजी होने जैसा और उन संबंधों के वियोग में शोक–ग्रस्त होने जैसा भी कुछ नहीं है ।

ज्ञान–दर्शन गुण से युक्त मेरी आत्मा शाश्वत है, जबकि शेष सभी बाह्य–भाव हैं । अन्य सभी संयोग कर्म के कारण पैदा हुए हैं ।

5) अन्यत्व भावना :– देह और आत्मा की भिन्नता का चिंतन करना अन्यत्व भावना है । आत्मा के गुणधर्म अलग हैं और देह के गुण–धर्म अलग हैं ।

पानी का स्वभाव अलग है और घी का स्वभाव अलग है । पानी में घी डालने पर वह घी पानी में Mix नहीं होता है, बल्कि ऊपर–ऊपर ही तैरता है ।

दूध और पानी का मिश्रण हो सकता है, क्योंकि कुछ अंशों में दूध और पानी के गुणधर्म एक समान हैं, परंतु पानी और घी का मिश्रण नहीं होता है, उसी प्रकार देह और आत्मा के गुण–धर्म भिन्न–भिन्न हैं । देह नाशवंत है, जबकि आत्मा शाश्वत है ।

देह के नाश में मेरा नाश नहीं है और देह के पोषण में मेरा पोषण नहीं है, इस प्रकार देह और आत्मा की भिन्नता का विचार करना अन्यत्व भावना है ।

6) अशुचि भावना :– शरीर के प्रति रहे ममत्वभाव को दूर करने के लिए आत्मा को अशुचि भावना से भावित करना चाहिए ! **'मेरा देह अशुचि से भरा हुआ है'** इस प्रकार का चिंतन करने से देह पर रहा राग भाव टिक नहीं पाता है ।

जिस प्रकार कपूर के बीच रहने पर भी लहसुन की दुर्गंध दूर नहीं होती है, उसी प्रकार इस शरीर को चाहे जितनी बार नहलाएँ, फिर भी यह अपने अशुचि स्वभाव को छोड़नेवाला नहीं है ।

जिस प्रकार कचरेपट्टी में सुगंध की कल्पना करना बेकार है, उसी प्रकार इस देह में सुगंध की कल्पना करना बेकार है ।

7) आश्रव भावना :– आत्मा में कर्म के आगमन के 42 हेतुओं के संदर्भ में चिंतन करना, उसे आश्रव भावना कहते हैं ।

जिस प्रकार एक तालाब में चारों ओर से जल का आगमन होने

हे आत्मन् ! सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र आत्मा के विकास की सीढ़ियाँ हैं । उनके पालन में तू उद्यमशील बन ।

9) निर्जरा भावना :– जिस आराधना–साधना के द्वारा पूर्व में संचित कर्मों का क्षय होता है, उसे निर्जरा कहते हैं । निर्जरा तत्त्व का चिंतन करना, उसे निर्जरा भावना कहते हैं ।

हे चेतन ! तूने पशु–पंखी के भवों में पराधीन अवस्था में बहुत कष्ट सहन किए हैं, अतः इस भव में तू उत्साहपूर्वक कष्ट सहन करेगा तो तेरा जल्दी उद्धार होगा ।

नरक–निगोद के भयंकर कष्टों के आगे तप–साधना के कष्ट तो नगण्य हैं ।

हे चेतन ! बाह्य तप की आराधना के साथ तू प्रायश्चित्त आदि अभ्यंतर तप की साधना के लिए भी प्रयत्नशील बन, जिसके फलस्वरूप तू अल्प भवों में भवबंधन से मुक्त हो सकेगा ।

10) लोकस्वरूप भावना :– चौदह राजलोक रूप संसार के स्वरूप का चिंतन करना, लोकस्वरूप भावना है । यह संसार धर्मास्तिकाय आदि षट्-द्रव्यात्मक है ।

यह चौदह राजलोक पुरुष की आकृति जैसा है । कमर पर दोनों हाथ लगाकर अपने दोनों पाँवों को चौड़ा करने से जो आकृति बनती है, उस आकारवाला यह लोक है । अधोलोक 7 राजलोक प्रमाण है और ऊर्ध्वलोक भी 7 राजलोक प्रमाण है, जबकि मध्यलोक 1800 योजन प्रमाण है । नीचे 7 राजलोक में 7 नरकावास हैं, जबकि ऊर्ध्वलोक में ज्योतिष और वैमानिक देवताओं के विमान हैं । कर्म के अधीन बनी आत्मा इस चौदह राजलोक रूप संसार में जहाँ–तहाँ भटकती है ।

11) बोधिदुर्लभ भावना :– इस संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा को बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है । मानव भव, धर्मश्रवण, धर्मश्रद्धा और धर्म का आचरण क्रमशः अत्यंत दुर्लभ है ।

सम्यग्दर्शन के अभाव में आत्मा इस संसार में एक योनि से दूसरी

स्थिरता पाना (ii) कर्मों की निर्जरा । आगे बताए जाने वाले 22 परीषहों में दर्शन परीषह और प्रज्ञा परीषह मार्ग में स्थिरता के लिए हैं, और अन्य 20 परीषह कर्मनिर्जरा के लिए हैं ।

परीषह सहन करने के अभ्यास से आत्मा के भीतर विशिष्ट शक्ति पैदा होती है । आत्मा के भीतर अनंत वीर्य रहा हुआ है, प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा उसे प्रकट किया जा सकता है । यदि परिषह सहन करने का अभ्यास न हो तो परिषह आने पर मन में आकुलता–व्याकुलता हो जाती है, जिसके कारण कर्मबंध और मोक्षमार्ग से पतन भी हो सकता है ।

बाईस परीषह

क्षुत्–पिपासा–शीतोष्ण–दंशमशक–नाग्न्याऽरति–स्त्री–चर्या–निषद्या–शय्या–ऽऽक्रोश–वध–याचना–ऽलाभ–रोग–तृणस्पर्श–मल–सत्कार–पुरस्कार–प्रज्ञा–ऽज्ञाना–ऽदर्शनानि ।।9-9।।

सामान्यअर्थ :–1) क्षुधा, 2)पिपासा, 3) शीत, 4) उष्ण, 5) दंशमशक, 6) नग्नता, 7) अरति, 8) स्त्री, 9) चर्या, 10) निषद्या, 11) शय्या, 12) आक्रोश, 13) वध, 14) याचना, 15) अलाभ, 16) रोग, 17) तृणस्पर्श, 18) मल, 19) सत्कार-पुरस्कार, 20) प्रज्ञा, 21) अज्ञान, 22) अदर्शन ये 22 परीषह हैं ।

विवेचन :– पूर्व सूत्र में परिषह का स्वरूप बताकर प्रस्तुत सूत्र में 22 परीषहों के नाम निर्देश किये हैं । इनका विजय कैसे होता है, वह निम्नलिखित है–

1) क्षुधा परीषह :– बयालीस दोष से रहित भिक्षा न मिलने पर भूख को सहन करना ।

2) पिपासा परीषह :– तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जलपान की इच्छा नहीं करना । प्यास को सहन करना ।

3) शीत परीषह :– अत्यधिक सर्दी पड़ने पर भी उसे इच्छापूर्वक सहन करना, किंतु अग्नि आदि की इच्छा न करना ।

16) रोग परीषह :– संयमग्रहण करने के बाद शरीर में किसी प्रकार की बीमारी आ जाय तो भी हाय–हाय किये बिना समतापूर्वक सहन करना ।

17) तृणस्पर्श परीषह :– शय्या अथवा आसन पर घास आदि के तिनके हों तो उनसे होनेवाली वेदना को सहन करना ।

18) मल परीषह :– शरीर पर मैल बढ़ गया हो, फिर भी स्नान की इच्छा न कर उसे सहन करना ।

19) सत्कार परीषह :– नगरजनों की ओर से भव्य स्वागत किया जाय, फिर भी उसमें राग न करना ।

20) प्रज्ञा परीषह :– असाधारण बुद्धि की प्राप्ति होने पर भी उसका अभिमान न करना, ज्ञान का अजीर्ण–अभिमान न होने देना ।

21) अज्ञान परीषह :– ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान न चढ़े तो भी खेद नहीं करना और ज्ञान–प्राप्ति के लिए यथाशक्य प्रयत्न करना ।

22) अदर्शन परीषह :– सम्यक्त्व से चलित करने के लिए कोई कितना ही उपसर्ग करे, फिर भी सम्यक्त्व से चलित नहीं होना ।

गुणस्थानकों में परीषह का वर्णन

सूक्ष्मसंपराय–छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।9–10।।

सामान्य अर्थ :– सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह और क्षीणमोह (10, 11, 12) गुणस्थानकों में चौदह (14) परीषह होते हैं ।

विवेचन :– उपर्युक्त 22 परिषहों में से दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक, ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थानक और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक में 1) क्षुधा परीषह, 2) पिपासा परीषह, 3) शीत परीषह, 4) उष्ण परीषह, 5) दंशमशक परीषह, 6) चर्या परीषह, 7) प्रज्ञा परीषह, 8) अज्ञान परीषह, 9) अलाभ परीषह, 10) शय्या परीषह, 11) वध परीषह, 12) रोग परीषह, 13) तृणस्पर्श परीषह, 14) मल परीषह ये 14 परीषह संभवित हैं ।

4.	उष्ण	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
5.	दंशमशक	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
6.	नग्नता	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
7 .	अरति	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
8 .	स्त्री	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
9 .	चर्या	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
10 .	निषद्या	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
11 .	शय्या	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
12 .	आक्रोश	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
13 .	वध	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
14 .	याचना	चारित्रमोहनीय	1 से 13 गुणस्थानक
15 .	अलाभ	लाभांतराय	1 से 12 गुणस्थानक
16 .	रोग	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
17 .	तृणस्पर्श	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
18 .	मल	वेदनीय	1 से 13 गुणस्थानक
19 .	सत्कार	चारित्रमोहनीय	1 से 9 गुणस्थानक
20 .	प्रज्ञा	ज्ञानावरण क्षयोपशम	1 से 12 गुणस्थानक
21 .	अज्ञान	ज्ञानावरण उदय	1 से 12 गुणस्थानक
22 .	अदर्शन	दर्शन मोहनीय उदय	1 से 9 गुणस्थानक

किस कर्म के उदय से कौन से परीषह होते हैं ?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।।9-13।।

दर्शनमोहा-ऽन्तराययोरदर्शना-ऽलाभौ ।।9–14।।

चारित्रमोहे नाग्न्या–ऽरति–स्त्री–निषद्या–ऽऽक्रोश–याचना–सत्कारपुरस्काराः ।।9–15।।

वेदनीये शेषाः ।।9–16।।

एक साथ संभवित परीषह

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ।।9-17।।

सामान्य अर्थ :– इन 22 परिषहों में से एक साथ एक जीव को 19 परिषह हो सकते हैं ।

विवेचन :– किसी एक जीव को एक साथ में सभी 22 परीषह नहीं हो सकते हैं । क्योंकि इन 22 परीषहो में कुछ परीषह परस्पर विरोधी हैं । (i) शीत परीषह होने पर उष्ण परीषह नहीं हो सकता है । (ii) वैसे ही चर्या, निषद्या और शय्या भी परस्पर विरोधी हैं क्योंकि विहार करते समय साधक बैठ या सो नहीं सकता । बैठते समय विहार नहीं कर सकता और सो भी नहीं सकता । सोते समय विहार नहीं कर सकता और बैठ भी नहीं सकता । इस प्रकार 22 परिषहों में से शीत और उष्ण में से एक और चर्या, निषद्या और शय्या में से दो कम करने पर (22–1–2=)19 परिषह एक साथ हो सकते हैं ।

चारित्र का स्वरूप

सामायिक–छेदोपस्थाप्य–परिहारविशुद्धि–
सूक्ष्मसम्पराय–यथाख्यातानि चारित्रम् ।।9-18।।

सामान्य अर्थ :– सामायिक, छेदोपस्थाप्य, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार के चारित्र हैं ।

विवेचन :– चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम से आत्मा में चारित्र के परिणाम पैदा होते हैं । आत्मा में संचित हुए कर्मों को रिक्त करने का काम यह चारित्र करता है ।

चारित्र के मुख्य 5 भेद हैं–

1) सामायिक चारित्र :– जिस आराधना–साधना के फलस्वरूप आत्मा में समभाव की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं ।

हिंसा आदि सावद्य पापप्रवृत्तियों के त्याग से आत्मा में सामायिक के परिणाम पैदा होते हैं ।

विधि :– गुरु की आज्ञापूर्वक स्थविरकल्पी 9 साधु गच्छ में से बाहर निकलकर तीर्थंकर भगवंत, गणधर भगवंत अथवा जिन्होंने पहले परिहारविशुद्धि को स्वीकर किया हो, उनके पास जाकर परिहारकल्प का स्वीकार करते हैं ।

इसमें पहले चार मुनि छह मास तक तप करते है, दूसरे चार मुनि उनकी सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य बनता है । छह मास पूर्ण होने के बाद वैयावच्च करनेवाले चार मुनि तप करते हैं और तप करनेवाले मुनि वैयावच्च करते हैं । फिर छह मास पूर्ण होने पर वाचनाचार्य तप करते हैं और एक अथवा 7 मुनि उनकी सेवा करते हैं ।

इस प्रकार 18 मास में यह कल्प पूरा होता है । परिहारकल्पी मुनि ग्रीष्मऋतु में जघन्य से चतुर्थ भक्त (एक उपवास), मध्यम से छट्ठ तप (दो उपवास) व उत्कृष्ट से अट्ठम तप (तीन उपवास) करते हैं । शीत ऋतु में जघन्य से छट्ठ, मध्यम से अट्ठम व उत्कृष्ट से दशभक्त (चार उपवास) करते हैं । जबकि वर्षाऋतु में जघन्य से तीन उपवास, मध्यम चार उपवास, व उत्कृष्ट से पाँच उपवास करते हैं ।

इस तप के पारणे में आयंबिल होता है । वैयावच्च करनेवाले और वाचनाचार्य हमेशा आयंबिल करते हैं ।

इस कल्प की पूर्णाहूति के बाद कुछ साधु पुनः परिहारविशुद्धिकल्प का स्वीकार करते हैं तो कुछ जिनकल्प को स्वीकार करते हैं और कुछ पुनः गच्छ में प्रवेश करते हैं ।

यह चारित्र पहले व अंतिम तीर्थंकर के शासन में होता है । अन्य बाईस तीर्थंकरों के शासन में नहीं होता है ।

4) सूक्ष्मसंपराय चारित्र :– चारित्र मोहनीय की 28 प्रकृतियों में से 27 प्रकृतियों का क्षय हो गया हो और मात्र संज्वलन लोभ ही सत्ता में पड़ा हो, तब 10 वें गुणस्थानक में रही आत्मा के चारित्र को सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहते हैं । संपराय का अर्थ कषाय होता है । मात्र लोभ का सूक्ष्म अंश बाकी रह जाने से इसे सूक्ष्मसंपराय कहते हैं ।

निकाचित कर्मों को भी नष्ट करने की ताकत **'सम्यग् तप'** में है । जिनाज्ञा के पालनपूर्वक जो सम्यग् तप किया जाता है, उसमें प्रचण्ड ताकत पैदा होती है । जिस प्रकार इन्द्र के वज्र में पर्वत को भेद डालने की, उसे चूर–चूर कर देने की ताकत रही हुई है, उसी प्रकार तप में भी सर्वशक्तिमान निकाचित कर्मों को जलाकर भस्मीभूत करने की ताकत रही हुई है ।

तप का आचरण निर्मल भाव से करना चाहिए, यही आगम का परम रहस्य है । निदानरहित छोटे से तप में भी मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य रहा हुआ है ।

यदि तप के साथ माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य रहा हुआ हो तो, वह तप जिनशासन में मान्य नहीं है । वह मात्र भव–वृद्धि का ही कारण बनता है ।

तप के मुख्य दो भेद हैं 1) बाह्य तप, 2) अभ्यंतर तप ।

बाह्य तप :– इस तप में बाह्य पदार्थों का त्याग किया जाता है । इस तप में देह को कष्ट पड़ता है, जो अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । आहार आदि बाह्य पदार्थों का त्याग होने से, अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष होने से तथा जैनेतर व्यक्तियों द्वारा भी आचरित होने से इसे बाह्य तप कहते हैं । इसके छह भेद हैं –

1) अनशन :– जिस तप में चारों प्रकार के आहार का सर्वथा अथवा आंशिक त्याग किया जाता है, उसे अनशन तप कहते हैं ।

अनशन में चार प्रकार के आहार का त्याग होता है । वे चार आहार इस प्रकार है–

(1) अशन :– जिस पदार्थ के खाने से क्षुधा की तृप्ति हो, उसे अशन कहते हैं । जैसे–रोटी, शाक, मिष्टान्न आदि ।

(2) पान :– अर्थात् पानी, पेय पदार्थ ।

(3) खादिम :– जिन वस्तुओं के भक्षण से क्षुधा की पूर्ण तृप्ति न हो किन्तु आंशिक तृप्ति होती हो । उदा. सेके हुए धान्य, चना, खजूर,नारियल, अंगूर आदि फल इत्यादि ।

जितना अथवा सुखपूर्वक मुँह में प्रवेश कर सके उतना ही होना चाहिए, जिससे मुँह को विकृत किये बिना सरलता से गले उतारा जा सके। पुरुष के लिए 31 कवल और स्त्री के लिए 27 कवल जघन्य ऊणोदरी होती है, तत्पश्चात् एक–एक कवल कम करते हुए मात्र 8 कवल जितना आहार लेना उत्कृष्ट ऊणोदरी है।

ऊणोदरी करने से शरीर में स्फूर्ति रहती है, क्योंकि अधिक आहार शरीर में जड़ता पैदा करता है। शारीरिक स्फूर्ति से संयम में अप्रमत्तता, अल्पनिद्रा आदि गुणों की प्राप्ति होती है, जो स्वाध्याय और साधना में सहायक हैं।

3) वृत्तिपरिसंख्यान :– वृत्ति अर्थात् आहार, परिसंख्यान अर्थात् गिनती करना। आहार की आसक्ति को तोड़ने के लिए, आहार हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अभिग्रह करना वृत्तिपरिसंख्यान अथवा वृत्तिसंक्षेप तप है।

(i) द्रव्य से–कुछ ही द्रव्य का आहार लेना और अन्य का त्याग करना अथवा द्रव्य की संख्या का नियम करना।

(ii) क्षेत्र से–साधु के लिए–कतिपय नियत घरों से ही गोचरी लेना, अन्य के घर आदि क्षेत्र का त्याग करना। गृहस्थ के लिए–घर आदि निश्चित क्षेत्र में बैठकर ही आहार लेना, अन्य क्षेत्र का त्याग करना।

(iii) काल से–निश्चित काल में ही भोजन करना, अन्य काल में त्याग करना।

(iv) भाव से–साधु के लिए–कोई निश्चित अवस्था वाला पुरुष वोहराये, तो ही गोचरी लेना। गृहस्थ के लिए–किसी निश्चित अवस्था में ही आहार लेना। जैसे शारीरिक स्वस्थता हो तो अमुक वस्तु का त्याग करना।

वृत्तिपरिसंख्यान तप के आचरण से सत्त्व गुण प्रकट होता है। लालसा के त्याग से कर्म की खूब निर्जरा होती है।

4) रसपरित्याग :– मनोहर स्वादिष्ट और रसप्रद पदार्थों का त्याग करना रसपरित्याग तप है। रस अर्थात् विगई। विगई के सेवन से मन में विकार भाव पैदा होता है और बढ़ता है।

अभ्यंतर तप

प्रायश्चित्त–विनय–वैयावृत्त्य–स्वाध्याय–व्युत्सर्ग–ध्यानान्युत्तरम् ।।9–20।।

नव–चतु–र्दश–पञ्च–द्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।।9–21।।

सामान्य अर्थ :– प्रायश्चित्त , विनय, वैयावृत्त्य(वैयावच्च), स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छह प्रकार के उत्तर अर्थात् अभ्यंतर तप हैं । ध्यान के पहले अर्थात् प्रायश्चित्त से व्युत्सर्ग तक के क्रमश 9, 4, 10, 5 और 2 भेद हैं ।

विवेचन :– 1) प्रायश्चित्त :– मूलगुण अथवा उत्तरगुण में, महाव्रत अथवा अणुव्रत के पालन में कोई जानबूझकर अथवा अनजाने में भूल हो जाये तो उसे गुरु के समक्ष प्रकटकर उस पाप की शुद्धि करने को प्रायश्चित्त कहते हैं । इसके 9 भेद हैं ।

2) विनय :– गुणवान व्यक्ति का बहुमान–आदि करना विनय है । इसके 4 भेद हैं ।

3) वैयावृत्त्य :– आचार्य आदि की सेवा-शुश्रूषा करना, वैयावृत्त्य अथवा वैयावच्च है । इसके 10 भेद हैं ।

4) स्वाध्याय :– श्रुतज्ञान का अभ्यास करना, स्वाध्याय है । इसके 5 भेद हैं ।

5) व्युत्सर्ग :– चारित्र में अनावश्यक वस्तु का त्याग करना व्युत्सर्ग है । इसके 2 भेद हैं ।

6) ध्यान :– विषयों में भटकते अपने चित्त को किसी एक विषय में स्थिर करना ध्यान है । इसके 4 भेद है ।

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचन–प्रतिक्रमण–तदुभय–विवेक–व्युत्सर्ग–तपश्छेद–परिहारोपस्थापनानि ।।9–22।।

8) मूल :– कोई बडा अपराध होने पर मूल से पुनः दीक्षा देना, मूल प्रायश्चित्त कहलाता है ।

9) अनवस्थाप्य :– जब तक अपराध का प्रायश्चित्त न करे तब तक महाव्रत प्रदान नहीं करना अनवस्थाप्य प्रायश्चित कहलाता है ।

10) पारांचित :– शासन के महाघातक-महापाप करने पर उसके दण्ड के लिए बारह वर्ष तक गच्छ बाहर रहकर शासन की बडी प्रभावना करने के बाद पुनः दीक्षा प्रदान करना, पारांचित प्रायश्चित्त है ।

वर्तमान में पारांचित प्रायश्चित्त का विच्छेद होने के कारण प्रायः दसवें पारांचित प्रायश्चित्त का यहाँ (तत्त्वार्थ में) निर्देश नहीं किया है ।

विनय के भेद

ज्ञान–दर्शन–चारित्रोपचाराः ।।9–23।।

सामान्य अर्थ :– ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय, ये चार प्रकार के विनय हैं ।

विवेचन :– विनय के मुख्य दो भेद हैं 1) तात्त्विक विनय और 2) उपचार विनय । इनमें मोक्षमार्ग (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) की स्वयं आराधना करना, तात्त्विक विनय है । ज्ञानादि गुणों से युक्त अन्य आराधक का यथा योग्य विनय करना, उपचार विनय है, इस विनय के चार भेद हैं ।

1) ज्ञान विनय :– मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान एवं उस ज्ञान के विषय में श्रद्धा करना, ज्ञानी की सेवा करना, अंतर में प्रीति और बहुमान भाव धारण करना, चिंतन–मनन और अनुप्रेक्षा करना, विधिपूर्वक नए–नए ज्ञान का अभ्यास करना इत्यादि ज्ञान विनय है ।

2) दर्शन विनय :– देव, गुरु और धर्म की आशातना का त्याग करना, तत्त्व रूप जीवादि की श्रद्धा करना, शम–संवेग आदि सम्यक्त्व के लक्षणों को धारण करना, इत्यादि दर्शन विनय है ।

3) चारित्र विनय :–चारित्र की श्रद्धा करना, उसकी स्पर्शना करना, उसके प्रति आदर रखना, पालन करना तथा चारित्र की प्ररूपणा करना, इत्यादि चारित्र विनय है ।

स्वाध्याय के भेद

वाचना–पृच्छना–ऽनुप्रेक्षा–ऽऽम्नाय–धर्मोपदेशाः ।।9–25।।

सामान्य अर्थ :– वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं ।

विवेचन :– 1) वाचना :– किसी साधु आदि को पढ़ाना या स्वयं पढ़ना ।

2) पृच्छना :– अध्ययन में जो शंकास्पद स्थान हो, उनका गुरु से निराकरण करना ।

3) अनुप्रेक्षा :– धारण किए अर्थ का चिन्तन करना ।

4) आम्नाय :– उच्चारण पूर्वक अभ्यास करना, नये श्रुत को कंठस्थ करना, कंठस्थ किये सूत्रों का पुनरावर्तन करना ।

5) धर्मोपदेश :– सूत्र के अर्थ की व्याख्या करना, प्रवचन देना, शिष्य आदि को धर्म का उपदेश देना ।

व्युत्सर्ग के भेद

बाह्या–ऽभ्यन्तरोपध्योः ।।9–26।।

सामान्य अर्थ :– बाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यंतर उपधि व्युत्सर्ग, ये व्युत्सर्ग के दो भेद हैं ।

विवेचन :– 1) बाह्य उपधि व्युत्सर्ग :– संयम जीवन का पालन करने हेतु बताए गए चौदह उपकरणों से अतिरिक्त उपकरण अथवा अकल्पनीय, अनेषणीय, जीव-संसक्त आहार-पानी आदि का त्याग करना, बाह्य उपधि व्युत्सर्ग है ।

2) अभ्यंतर उपधि व्युत्सर्ग :– रोगादि के कारण अथवा मृत्यु समीप में आने से शास्त्रोक्त विधि से काया और कषायों का त्याग करना, अभ्यंतर उपधि व्युत्सर्ग है ।

अन्तर्मुहूर्त है । इस प्रकार एक–एक समय जितना काल न्यून करने पर एक अन्तर्मुहूर्त के असंख्य भेद होते हैं ।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त नौ समय का होता है और उत्कृष्ट एक समय न्यून 48 मिनिट का काल होता है ।

अन्तर्मुहूर्त तक होनेवाली मन की एकाग्रता को **'ध्यान'** कहते हैं । जीव की चित्तवृत्ति जब एकाग्र बनती है तब उसे ध्यान कहा जाता है ।

छद्मस्थ का मन किसी एक पदार्थ में अधिकतम एक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रह सकता है । उसके बाद अवश्य ही उसमें परिवर्तन आता है । एक ध्यान की समाप्ति के बाद मन चलित होकर पुनः जब ध्यान में स्थिर होता है, उसके बीच की स्थिति को **'ध्यानांतरिका–ध्यानांतर'**कहते हैं । उस समय चिंता–भावना या अनुप्रेक्षा होती है ।

वीतराग सर्वज्ञ होने के बाद द्रव्य मन कार्यकारी नहीं होता है, अतः योगनिरोध अर्थात् काया की स्थिरता ही केवली भगवंत का ध्यान है जबकि छद्मस्थ के लिए मन की एकाग्रता, स्थिरता ही ध्यान है ।

ध्यान के भेद एवं फल

आर्त–रौद्र–धर्म–शुक्लानि ।।9–29।।

परे मोक्षहेतू ।।9–30।।

सामान्य अर्थ :– आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं ।

अंतिम दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं ।

विवेचन :– छद्मस्थ जीवों को चार प्रकार के ध्यान होते हैं ।

1) आर्तध्यान :– दुःख के कारण होने वाला अशुभध्यान, आर्तध्यान है । यह ध्यान तिर्यंच गति का कारण है ।

2) रौद्रध्यान :– हिंसा आदि के क्रूर परिणाम वाला अशुभध्यान, रौद्रध्यान है । यह ध्यान नरक गति का कारण है ।

3) धर्मध्यान :– क्षमा आदि दस प्रकार के यतिधर्मवाला शुभध्यान,

जैसे: गधा रेंकता हो तो मन को पसंद नहीं पड़ता है । उसकी कर्कश आवाज सुनकर मन दुःखी हो जाता है ।

अपनी आँख के सामने कोई कोढ़ी आ जाय तो मन बेचैन हो जाता है ।

बादाम खाते समय कड़वी बादाम आ जाय या पूरणपोली खाते समय मुँह में कंकड़ आ जाय तो mood खराब हो जाता है ।

आसपास कोई कुत्ता या चूहा मरा हुआ हो तो उसकी दुर्गंध से मन परेशान हो जाता है ।

किसी वस्तु के कर्कश स्पर्श को प्राप्तकर मन नाखुश हो जाता है ।

मन के प्रतिकूल संयोग खड़े होने पर मन सतत उसके वियोग की चिंता करता रहता है । मन का यह चिंतन ही आर्तध्यान है ।

आर्तध्यान का दूसरा भेद

वेदनायाश्च ।।9–32।।

सामान्य अर्थ :– शरीर में रोग हो जाने पर उस वेदना को दूर करने का तथा उसे दूर करने के उपाय का एकाग्रचित्त से विचार करना, यह आर्तध्यान का **'वेदना वियोग चिंता'** नाम का दूसरा भेद है ।

विवेचन :– अशाता वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग पैदा होते हैं ।

सामान्यतः मोहाधीन आत्माओं को भोजन, धन, पुत्र, पत्नी, परिवार, प्रतिष्ठा आदि से भी सबसे अधिक राग अपने शरीर पर होता है ।

शरीर पर सबसे अधिक रागभाव होने के कारण उस शरीर में पैदा हुए रोग के निवारण के लिए संसारी जीव सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है ।

जब दान की बात आती है तब धन के ममत्व के कारण धन छूटता नहीं है, परंतु शरीर के रोग के निवारण के लिए हजारों रुपयों

गर्मी हो तो गर्मी से आकुल–व्याकुल होकर ठंडे पवन की इच्छा करना । उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहना, आर्तध्यान कहलाता है ।

भोजन के लिए बैठे हों तब मनपसंद भोजन की इच्छा करना, ऋतु के अनुकूल भोजन की इच्छा करना, आर्तध्यान है ।

वस्त्र में भी अपनी पसंदगी के वस्त्रों की इच्छा करना, आर्तध्यान है ।

रहने के लिए मकान हवादार हो । हाई सोसायटी में निवास हो, बाग–बगीचे आदि की सुविधावाला मकान हो, इत्यादि चिंता करना, इष्ट- संयोग चिंता नाम का आर्तध्यान का तीसरा भेद है ।

आर्तध्यान का चौथा भेद

निदानं च ।।9–34।।

सामान्य अर्थ :– 'निदान' यह आर्तध्यान का चौथा भेद है ।

विवेचन :– इस संसार में जीवात्मा को जो कुछ भी सुख मिलता है, वह धर्म का ही फल है ।

संसार में जीवात्मा को जो कुछ भी दुःख मिलता है, वह स्वयं किये पाप का फल है ।

सुख मात्र धर्म से मिलता है और दुःख मात्र पाप से मिलता है, इस बात में कहीं मतभेद नहीं है ।

दुनिया में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे गए हैं । धर्म के फलस्वरूप सब कुछ मिलता है ।

धर्म से धन भी मिलता है, धर्म से काम–सुख भी मिलते हैं और धर्म से मोक्ष भी मिलता है । धर्म दो प्रकार का होता है–

1) शुद्ध धर्म :– एक मात्र मोक्ष के विशुद्ध आशय से, एक मात्र आत्मकल्याण के आशय से जो धर्म किया जाता है, वह शुद्ध धर्म कहलाता है ।

2) मलिन धर्म :– संसार के भौतिक सुखों को पाने की लालसा से जो धर्म किया जाता है, वह मलिनधर्म कहलाता है ।

4) पुरुष :– कोई सोचता है, स्त्री को कितनी गुलामी सहन करनी पड़ती है। उसे प्रसूति की पीड़ा सहन करनी पड़ती है, अतः **'मैं अगले जन्म में पुरुष बनूँ।'**

5) परप्रविचारी देव :– मनुष्य का शरीर मल, मूत्र, श्लेष्म, वमन, पित्त, शुक्र आदि अशुचि से भरा हुआ है, अतः **मैं दूसरे देव–देवी का भोग कर सकूँ, परप्रविचारी देव बनूँ।**

6) स्वप्रविचारी देव :– दूसरे देव–देवी के भोग में पराधीनता है, अतः मैं ही देव–देवी के उभयरूप की विकुर्वणा कर सकूँ ऐसा **स्वप्रविचारी देव बनूँ।**

7) अल्पवेदी देव :– कोई सोचता है, देव–देवी के भोग में कर्म का बंध है, अतः **मैं अल्पवेद के उदयवाला नौ ग्रैवेयक में देव बनूँ।**

8) श्रीमंत श्रावक :– कोई सोचता है, देवताओं को अविरति का उदय होता है, अतः धर्म का फल मिलता हो तो **मैं अगले जन्म में श्रीमंत श्रावक बनूँ।**

9) दरिद्र :– कोई सोचता है कामभोग दुःखदायी हैं, धन प्रतिबंधक है अतः अगले जन्म में **मैं दरिद्र बनूँ ताकि गृहस्थ जीवन का त्याग कर जल्दी दीक्षा ले सकूँ।**

इन नौ निदानों में से एक से छह तक के निदान अवश्यमेव संसारवर्धक हैं।

सातवें निदानवाला देशविरति के परिणाम प्राप्त नहीं करता है।

आठवें निदानवाला सर्वविरति प्राप्त नहीं करता है और नौवें निदानवाला सर्वविरति प्राप्त करता है, परंतु मोक्ष प्राप्त नहीं करता है। अतः ये सभी प्रकार के निदान आर्तध्यान रुप होने से त्याज्य है।

गुणस्थानकों में आर्तध्यान

तदविरत–देशविरत–प्रमत्तसंयतानाम् ।।9–35।।

सामान्य अर्थ :– ये आर्तध्यान अविरतिधर, देशविरतिधर और प्रमत्तसंयमी को होते हैं।

आर्तध्यान में स्वदुःख की चिंता होती है, जबकि रौद्रध्यान में दूसरों को मारने का, खत्म करने का विचार होता है ।

अपने सुख में बाधक व्यक्ति को मौत के घाट उतारने की क्रूर लेश्या रौद्रध्यान में होती है ।

भौतिक पदार्थों के प्रति जब राग में तीव्रता आती है, तब उस वस्तु की प्राप्ति में बाधक व्यक्ति को खत्म करने का मानसिक परिणाम पैदा होता है, जो रौद्रध्यान को जन्म देता है ।

किसी व्यक्ति के प्रति जब हृदय में क्रूरता के परिणाम तीव्र बनते है, तब व्यक्ति रौद्रध्यान में चला जाता है ।

रौद्रध्यान के चार भेद–

1) हिंसानुबंधी रौद्रध्यान :– यह रौद्रध्यान अत्यंत क्रोध रूपी ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति को निर्दय परिणाम के कारण पैदा होता है जो नरकगति का कारण है । इस रौद्रध्यान में वध, वेध आदि निम्नलिखित कार्य होते हैं ।

(1) वध :– हाथ से, चाबुक से अथवा बेंत आदि से किसी प्राणी को मारना–पीटना आदि ।

(2) वेध :– गाय–बैल–घोड़ा–पाड़ा आदि पशुओं के नाक–कान आदि को बींधना–नाक में डोरी डालना । उदा. जैसे बैल के नाक को बींधकर डोरी डालते हैं ।

(3) बंधन :– डोरी–रस्सी तथा चमड़े के पट्टे आदि से पशुओं को बाँधकर रखना ।

(4) दहन :– गर्म सुई आदि से पशुओं के अंग–प्रत्यंग आदि को जलाना ।

(5) अंकन :– पशुओं के शरीर पर डाम आदि देकर चिह्न करना ।

(6) मारण :– हथियार से या जहर देकर जीवों को खत्म करना ।

(4) भूतघातिवचन :– जिससे जीवों का घात हो, ऐसे वचन बोलना ।

3) स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान :– तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ से जिसका मन आकुल–व्याकुल बना हो । परलोक की आपत्ति की जिसे परवाह न हो, ऐसे व्यक्ति द्वारा दूसरे के धन की चोरी करने के ध्यान को **'स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान'** कहते हैं, जिसमें प्राणियों को खत्म करने की भी वृत्ति होती है ।

पाप करने का जिसे लेश भी भय न हो, परलोक में मेरी आत्मा की क्या दुर्दशा होगी, उसका जिसे विचार भी न हो, **'परलोक किसने देखा है, जो है सो यही है । यही स्वर्ग है और नरक है । परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है ।'** ऐसी जिसकी मान्यता होती है, उसे अनार्य कहते हैं ।

ऐसा अनार्य व्यक्ति जब तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ के अधीन बन जाता है, तब उसे स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान होता है ।

चोरी करने का मन दो कारणों से होता है–तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ ।

सामनेवाला व्यक्ति जब दुश्मन लगता हो, तब उसे बर्बाद करने का भी मन हो जाता है । बस, इसी भावना से धन आदि की चोरी करने का मन होता है । अथवा किसी वस्तु को पाने के लिए मन में तीव्र लोभ हो और वह वस्तु सुलभता से नहीं मिल पाती हो तो उस वस्तु की चोरी करने का मन होता है ।

4) संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान :– शब्द आदि विषयों के साधनभूत, धन आदि की रक्षा में परायण, अनिष्ट की शंकाओं से भरा हुआ तथा हिंसा के भाव से व्याकुल चित्त, यह संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है ।

पाँच इन्द्रियों की आसक्ति बड़ी भयंकर है । इन्द्रियों के विषयसुखों की आसक्ति व्यक्ति के द्वारा भयंकर से भयंकर पाप कर्म करवाती है ।

विषयों के राग में से ही भयंकर युद्ध खड़े हुए हैं ।

की आराधना करनी हो तो उसके लिए जिनाज्ञा की खूब–खूब महिमा है। आजतक जितनी भी आत्माएँ मोक्ष में गई हैं, वे सब जिनाज्ञा की आराधना, जिनाज्ञा का पालन करके ही गई हैं।

जिनाज्ञा का पालन मोक्ष के लिए है, जबकि जिनाज्ञा का भंग या जिनाज्ञा की विराधना संसार के लिए है। जीवन में जिनाज्ञा का पालन ज्यों–ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों आत्मा मोक्ष के नजदीक पहुँचती है और ज्यों–ज्यों आज्ञा का भंग होता है, त्यों–त्यों आत्मा अपना संसार बढ़ाती जाती है।

प्रभु की आज्ञा का विचार करना, यह धर्मध्यान का पहला भेद है।

2) अपाय विचय धर्मध्यान :– राग–द्वेष, कषाय और आश्रव की क्रिया करने से इसलोक और परलोक में जीवात्मा को कैसे अनर्थ होते हैं ? उसका ध्यान पापत्यागी आत्मा को करना चाहिए, उसे अपाय विचय धर्मध्यान कहते है।

संसारवर्द्धक राग :– राग तो महा भयंकर है। यह आत्मा के भवभ्रमण को बढ़ानेवाला है। भयंकर रोग से ग्रस्त व्यक्ति जब अपथ्य का सेवन करता है तो उसका रोग शांत होने के बजाय बढ़ता जाता है। बस, इसी प्रकार राग का सेवन भी आत्मा के संसार को बढ़ाता है।

राग के मुख्य तीन भेद हैं–

(1) काम राग :– पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय, अनुकूल शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के राग को काम राग कहते हैं।

(2) स्नेह राग :– पुत्र–पुत्री आदि कुटुंबीजनों पर रहे राग को स्नेहराग कहते हैं।

(3) दृष्टि राग :– मिथ्यामत–कुमत के राग को दृष्टिराग कहते हैं।

द्वेष का दावानल :– राग की भाँति द्वेष की आग भी कम खतरनाक नहीं है। द्वेष की आग दिल को जलाती रहती है।

कर्म ने आत्मा की खूब बेहाली की है । कर्म के दुष्परिणामों का विचार आँख के सामने हो तो आत्मा नवीन कर्मों के बंध से अपने आपको बचा सकती है । इस प्रकार कर्मों के विपाक का चिंतन करना, यह धर्मध्यान का तीसरा भेद है ।

4) संस्थान विचय धर्मध्यान :– जिनेश्वर भगवंत ने धर्मास्तिकाय आदि का जो स्वरूप बताया है, उसके संबंध में चिंतन–मनन आदि करना संस्थान विचय नाम का धर्मध्यान है ।

संस्थान अर्थात् पदार्थों का समूह । विचय अर्थात् चिंतन ।

इस ध्यान में निम्नलिखित पदार्थों का चिंतन करना चाहिए–

1. द्रव्य चिंतन :– विश्व में रहे हुए छह द्रव्यों के संदर्भ में चिंतन करना चाहिए । जैसे–

(1) धर्मास्तिकाय :– यह द्रव्य चौदह राजलोक में व्याप्त है, जो जीव और पुद्गल-को गति करने में सहायता करता है ।

(2) अधर्मास्तिकाय :– यह द्रव्य चौदह राजलोक में व्याप्त है, जो जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में सहायता करता है ।

(3) आकाशास्तिकाय :– यह लोक और अलोक में व्याप्त है, जो पदार्थ को अवकाश प्रदान करता है ।

(4) पुद्गलास्तिकाय :– पूरण-गलन, इकट्ठा होना और नष्ट होना इसका स्वभाव है ।

(5) जीवास्तिकाय :– जीव–चैतन्य स्वरूप है ।

(6) काल :– जो नई वस्तु को पुरानी बनाता है ।

धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों के संदर्भ में निम्न बातों का विचार करना चाहिए –

1. लक्षण :– इन छह द्रव्यों के भिन्न–भिन्न लक्षण हैं । ये सभी द्रव्य स्वतंत्र रूप से रहे हुए हैं । ये सभी द्रव्य एक–दूसरे में बदलते नहीं हैं । सभी द्रव्य हमेशा के लिए अपनी-अपनी स्वभावदशा में रहे हुए हैं और अपना अपना कार्य करते हैं ।

हर कोई व्यक्ति धर्मध्यान नहीं कर सकता है–उसके लिए भी योग्यता पात्रता चाहिए ।

1. अप्रमत्तयोगी :– जो आत्मा अप्रमत्त नाम के 7 वें गुणस्थानक में रही हुई है । पाँच प्रकार के प्रमाद से रहित है, ऐसे महात्मा धर्मध्यान के सच्चे अधिकारी हैं ।

2. उपशांतकषायवाली आत्मा :– जिस आत्मा ने मोहनीय कर्म की उपशमना की हो अर्थात् मोहनीय कर्म को उपशांत कर दिया हो, ऐसी 11 वें गुणस्थानक पर रही आत्मा धर्मध्यान की अधिकारी है । अर्थात् 7 से 11 वें गुणस्थानक तक उन्हें धर्मध्यान रहता है ।

3. क्षीणकषायवाली आत्मा :– जिस आत्मा ने मोहनीय कर्म का क्षय कर दिया हो, ऐसी 12 वें गुणस्थानक पर रही आत्मा भी धर्मध्यान की अधिकारी है । अर्थात् 7 वें से 12 वें गुणस्थानक तक उन्हें धर्मध्यान रहता है ।

निश्चय नय से तो धर्मध्यान के सच्चे अधिकारी सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानकवर्ती जीव हैं ।

व्यवहार नय से भी प्रधानरूप से तात्त्विक धर्मध्यान के अधिकारी 7 वें से 12 वें गुणस्थानकवर्ती हैं, जब कि गौणरूप से प्रमाद दशा से युक्त देशविरतिधर और सर्वविरतिधर भी हैं ।

अप्रमत्त आदि गुणस्थानकों में सालंबन व निरालंबन ध्यान दोनों संभव हैं, जब कि प्रमाद दशा में सालंबन ध्यान ही संभव है, निरालंबन नहीं ।

शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों के अधिकारी

शुक्ले चाद्ये (पूर्वविदः) ।।9–39।।

सामान्य अर्थ :– उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानक पर रहे मुनि यदि पूर्व के ज्ञाता हों तो उन्हें शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद होते हैं ।

विवेचन :– पिछले सूत्र में बताए ग्यारहवें गुणस्थानकवर्ती उपशांत

शुक्ल ध्यान के चार भेद

पृथक्त्वै–कत्ववितर्क–सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति–व्युपरतक्रियाऽनिवृत्तीनि ।।9–41।।

सामान्य अर्थ :– पृथक्त्ववितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति, ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं।

विवेचन :– 1) पृथक्त्व वितर्क सविचार – धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्ल ध्यान में पदार्थ का विषय अत्यंत सूक्ष्म होता है। किसी एक द्रव्य में अणु द्रव्य या आत्मा आदि द्रव्य का पर्याय पहले शुक्ल ध्यान का विषय बनता है।

उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायें हैं। एक ही द्रव्य के पर्याय का ध्यान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक या निश्चय–व्यवहार नय के अनुसार होता है।

उदा. द्रव्यार्थिक नय से उत्पाद आदि पर्याय को द्रव्य से अभिन्न मानकर चिंतन होता है। यह चिंतन पूर्व के अन्तर्गत श्रुतानुसारी होता है।

पृथक्त्व–खूब विस्तार से,

वितर्क–शास्त्रानुसारी,

सविचार–विचारों का संक्रमण

यह ध्यान पूर्वगतश्रुत के स्वामी ही कर सकते हैं। फिर भी मरुदेवा आदि को यह ध्यान हुआ, उसका कारण श्रेष्ठ भाव से ऊपर के गुणस्थानक को प्राप्त करने के कारण वे पूर्वगत श्रुत के शब्द से नहीं किंतु अर्थ से वेत्ता बन गए थे।

सविचार अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योग में एक से दूसरे पर विचरण संक्रमण वाला होता है।

अर्थ अर्थात् वस्तु

व्यंजन अर्थात् उसका बोधक शब्द। उत्पत्ति वस्तु का बोधक शब्द उत्पाद।

का भी आधा निरोध हो गया हो तब सूक्ष्म कायक्रिया होने से सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

प्रथम दो प्रकार के शुक्लध्यान से आत्मा घाति कर्मरूपी कचरे को संपूर्ण साफ करती है, जिसके फलस्वरूप आत्मा में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, वीतरागता और अनंतवीर्य गुण प्रकट होते हैं ।

आयुष्य का शेष समय सयोगी गुणस्थानक में व्यतीत करती है ।

सयोगी गुणस्थानक में रही आत्मा सिर्फ योगजन्य एक ही कर्म सातावेदनीय का बंध करती है । उस कर्म की स्थिति अत्यल्प होती है । पहले समय में कर्म का बंध होता है, दूसरे समय में कर्म का उदय होता है और तीसरे समय में उस कर्म की निर्जरा भी हो जाती है ।

मोक्षकाल नजदीक आने पर आत्मा योगों का निरोध करती है । काययोग द्वारा सर्वप्रथम मनोयोग और वचनयोग का निरोध करती है । दोनों के निरोध के बाद आधे काययोग का भी निरोध हो जाता है । अब सूक्ष्म श्वासक्रिया ही रहती है–उस समय सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

4. व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति :– तीसरे शुक्ल ध्यान के बाद आत्मा शैलेश अर्थात् मेरु की तरह संपूर्ण निश्चल अवस्था प्राप्त कर व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति नाम का चौथा शुक्ल ध्यान करती है ।

तेरहवें गुणस्थानक का काल पूरा होने के बाद आत्मा चौदहवें अयोगी गुणस्थान को प्राप्त करती है । वहाँ मेरु की तरह निश्चल बनी आत्मा का सूक्ष्म काययोग भी चला जाता है और वह व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान करती है ।

यहाँ सभी क्रियाएँ चली गई हैं । अनिवृत्ति अर्थात् प्राप्त अवस्था अब कभी भी जानेवाली नहीं है–अर्थात् सदाकाल रहनेवाली है । प्रथम दो शुक्ल ध्यान केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व और अंतिम दो शुक्ल ध्यान मोक्ष पाने के पहले होते हैं ।

एकाश्रय हैं और सवितर्क हैं । एकाश्रय अर्थात् आत्मा अथवा परमाणु आदि किसी एक के आलंबन से होने वाला ध्यान । सवितर्क अर्थात् पूर्वगत श्रुत के साथ में होने वाला ध्यान ।

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेदों में ध्यान–आत्मा या परमाणु आदि किसी एक द्रव्य का आलंबन होता है । तथा पूर्वगत श्रुत के आधार पर होता है । जबकि अन्य दो भेदों में एसा नहीं होता है ।

दूसरे भेद की विशेषता

अविचारं द्वितीयम् ।।9–44।।

सामान्य अर्थ :– शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद विचार रहित होता है ।

विवेचन :– पहले 41 वें सूत्र के विवेचन में बताए अनुसार दूसरे शुक्ल ध्यान में मन–पदार्थ, द्रव्य या योग पर स्थिर हो जाता है, इसलिए वह अविचार ध्यान है ।

इससे सिद्ध होता है कि पहले शुक्ल ध्यान में मन पदार्थ, द्रव्य या योग पर स्थिर नहीं रहता है, बल्कि विचरण करता है ।

अतः पहला भेद–पृथक्त्व वितर्क–सविचार है जबकि दूसरा भेद एकत्व वितर्क–अविचार है । दोनों ध्यान में एकाश्रय और सवितर्क की समानता है, जबकि विचार की असमानता है ।

वितर्क की व्याख्या

वितर्कः श्रुतम् ।।9–45।।

सामान्य अर्थ :– वितर्क यानी पूर्वगत श्रुत ।

विवेचन :– शुक्ल ध्यान के प्रथम दोनों भेदों के नाम में वितर्क शब्द का प्रयोग है । सामान्य से वितर्क अर्थात् विकल्प करना / चिन्तन करना होता है । फिर भी यहाँ वितर्क अर्थात् पूर्वगत श्रुत के आधार पर विविध नयों

सामान्य अर्थ :– सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधीवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशांतमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह और जिन ये दस क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्येय गुणी निर्जरा करते हैं।

विवेचन :– एक समान क्रिया होने पर भी अवस्था भेद की अपेक्षा निर्जरा में भेद होता है। सम्यग्दृष्टि आदि दस अवस्थाएँ एवं उनकी निर्जरा में भेद इस प्रकार है।

1. सम्यग्दृष्टि :– व्रत–नियम से रहित मात्र सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा सम्यग्दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की निर्जरा असंख्य गुणा होती है।

2. श्रावक :– सम्यग्दर्शन एवं देशविरति से युक्त आत्मा श्रावक है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा श्रावक की निर्जरा असंख्य गुणा होती है।

3. विरत :– महाव्रतधारी साधु–साध्वी विरत हैं। श्रावक की अपेक्षा विरत की निर्जरा असंख्य गुणा होती है।

4. अनंतानुबंधी वियोजक :– क्रोधादि चार अनंतानुबंधी कषायों को वर्तमान में क्षय करने वाली आत्मा अनंतानुबंधी वियोजक है। विरत की अपेक्षा अनंतानुबंधी वियोजक की निर्जरा असंख्य गुणा होती है।

5. दर्शनमोहक्षपक :– अनंतानुबंधी क्रोधादि चार कषाय एवं सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ दर्शनमोह की हैं। वर्तमान में दर्शनमोह का क्षय करने वाली आत्मा दर्शनमोहक्षपक है। अनंतानुबंधी वियोजक की अपेक्षा दर्शनमोहक्षपक की निर्जरा असंख्य गुणा है।

6. मोहोपशमक :– चारित्र मोहनीय कर्म के अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन क्रोधादि कषाय रूप बारह प्रकृति एवं नौ नोकषाय कुल 21 प्रकृतियों का उपशम कर रही, नौवें–दसवें गुणस्थानक पर रही उपशम श्रेणी पर चढ़ी आत्मा मोहोपशमक है। दर्शनमोहक्षपक की अपेक्षा मोहोपशमक की निर्जरा असंख्य गुणा है।

1. पुलाक :– पुलाक अर्थात् सार रहित । जैसे फल का गर्भ निकाल देने के बाद शेष बचे छिलके साररहित माने जाते हैं । वैसे ही जिन साधुओं का जीवन–ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में अतिचार–युक्त हो, उन्हें पुलाक निर्ग्रंथ कहते हैं । अतिचार दोष के कारण उनके रत्नत्रयी सार-रहित हो जाते हैं ।

पुलाक निर्ग्रंथ के दो भेद हैं–

(1) लब्धिपुलाक :– तप और श्रुत के प्रभाव से प्राप्त हुई लब्धियों को निष्कारण स्वयं का महत्त्व बताने के लिए एवं स्वयं की ख्याति, कीर्ति, प्रशंसा आदि बढ़ाने के लिए उपयोग करने के कारण, ऐसे लब्धिवाले साधुओं का संयम साररहित बन जाता है ।

इनके पास लब्धियाँ तो अनेक प्रकार की होती हैं । जिससे चक्रवर्ती के विराट् सैन्य को भी समाप्त कर सके इनके जीवन में जिनाज्ञा के प्रति पूरी श्रद्धा होती है । चारित्र के परिणाम भी होते हैं । परंतु प्रमाद के वश होकर प्राप्त हुई लब्धियों का उपयोग करके अपने साधुजीवन को सार-रहित कर देते हैं ।

(2) सेवा-पुलाक :– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लिंग और सूक्ष्म के भेद से सेवा पुलाक के पाँच भेद हैं ।

(क) ज्ञान पुलाक – ज्ञानाचार के आठ आचारों के पालन में अतिचार लगाए । अर्थात् काल समय में न पढे, अकालसमय में पढे, विनय और बहुमानहीन पढ़े, योगोद्वहन किए बिना पढ़े, सूत्र का उच्चारण और अर्थ अशुद्ध करे, इत्यादि ज्ञान के आचारों में अतिचार दोष लगाए ।

(ख) दर्शन पुलाक – दर्शनाचार के आठ आचारों में अतिचार लगाए । जिनप्रणीत तत्त्व में शंका रखे इत्यादि ।

(ग) चारित्र पुलाक – पाँच महाव्रत समिति–गुप्ति आदि मूलगुणों में और पिंडविशुद्धि आदि उत्तर गुणों में अतिचार लगाये इत्यादि ।

3. कुशील – कुत्सित चारित्रवाले कुशील होते हैं । उनका आचरण अयोग्य होता है । संज्वलन कषाय के उदय अथवा उत्तर गुण में दोषों के कारण उनका चारित्र दूषित होता है । कुशील दो प्रकार के हैं–

(i) प्रतिसेवना कुशील – पिंडविशुद्धि, भावना आदि उत्तरगुणों में अतिचार दोषों का प्रतिसेवन करनेवाले प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं ।

(ii) कषाय कुशील – संज्वलन कषाय के उदय से जिनका चारित्र दूषित होता है, उन्हें कषाय कुशील कहते हैं । सेवापुलाक में बताए पाँच भेदों के समान कषायकुशील के भी ज्ञानकुशील, दर्शनकुशील, चारित्रकुशील, लिंगकुशील और सूक्ष्मकुशील–ये पाँच भेद होते हैं ।

4. निर्ग्रंथ – जिसने मोह की गाँठ को तोड़ दी हो अर्थात् मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम अथवा क्षय कर दिया हो, उन्हें निर्ग्रंथ कहते हैं । उपशम श्रेणी की अपेक्षा 11 वें उपशांतमोह गुणस्थानक और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा 12 वें क्षीणमोह गुणस्थानक में रहे जीव क्रमशः उपशामक निर्ग्रंथ और क्षपक निर्ग्रंथ कहलाते हैं ।

5. स्नातक – जिसने रागादि के मैल को दूर कर दिया हो अर्थात् घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया हो, उन्हें स्नातक कहते हैं । स्नातक के दो भेद हैं–

(i) सयोगी स्नातक – 13 वें गुणस्थानक में रहे हुए सयोगी केवलज्ञानी भगवंत, सयोगी स्नातक हैं ।

(ii) अयोगी स्नातक – 14 वें गुणस्थानक मे रहे हुए अयोगी केवलज्ञानी भगवंत, अयोगी स्नातक हैं ।

पाँच निर्ग्रंथ संबंधी विशेष विचार

संयम–श्रुत–प्रतिसेवना–तीर्थ–लिङ्ग–लेश्यो–पपात–स्थानविकल्पतः साध्याः ।।9–49।।

सामान्य अर्थ :– निर्ग्रंथ के विषय में विशेष विचारणा हेतु 1) संयम, 2)

अतिचार लगाते हैं, लेकिन मूलगुण की विराधना नहीं करते हैं । कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक किसी प्रकार के दोषों का सेवन नहीं करते हैं ।

4. तीर्थ – पाँचों प्रकार के निर्ग्रंथ सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं । अन्य मत के अनुसार सिर्फ पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना ये तीन चारित्री तीर्थ में ही होते हैं । जबकि कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ (शासन–स्थापना के पहले अथवा संघ के विच्छेद के बाद) भी होते हैं । जैसे मरुदेवी माता ।

5. लिंग – द्रव्य और भाव के भेद से निर्ग्रंथ के चिह्न के दो भेद है । रजोहरण, मुहपत्ति आदि द्रव्यलिंग है एवं ज्ञान–दर्शन–चारित्र भावलिंग है । सभी निर्ग्रंथों को भावलिंग अवश्य होता है । जबकि द्रव्यलिंग हो सकता है और न भी हो सकता है । जैसे मरुदेवी माता को भावलिंग होने पर भी द्रव्यलिंग का अभाव था ।

6. लेश्या – (i) पुलाक तथा परिहारविशुद्धि चारित्रवाले कषायकुशील को तीन शुभ लेश्या होती हैं ।

(ii) बकुश और प्रतिसेवना कुशील को छह लेश्या होती हैं ।

(iii) सूक्ष्मसंपराय संयम वाले कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक को शुक्ल लेश्या होती है ।

(iv) अयोगी स्नातक को लेश्या का अभाव होता है, क्योंकि वे केवली होते हैं ।

7. उपपात – उत्कृष्ट से **(i) पुलाक–**आठवें सहस्त्रार देवलोक में उत्कृष्ट स्थितिवाले देवता बन सकते हैं ।

(ii) बकुश–21 सागरोपम की स्थिति वाले 11 वें आरण देवलोक में देवता बन सकते हैं ।

(iii) प्रतिसेवना कुशील– 22 सागरोपम की स्थिति वाले 12 वें अच्युत देवलोक में देवता बन सकते हैं ।

(iv) कषायकुशील और निर्ग्रंथ– सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हो सकते हैं ।

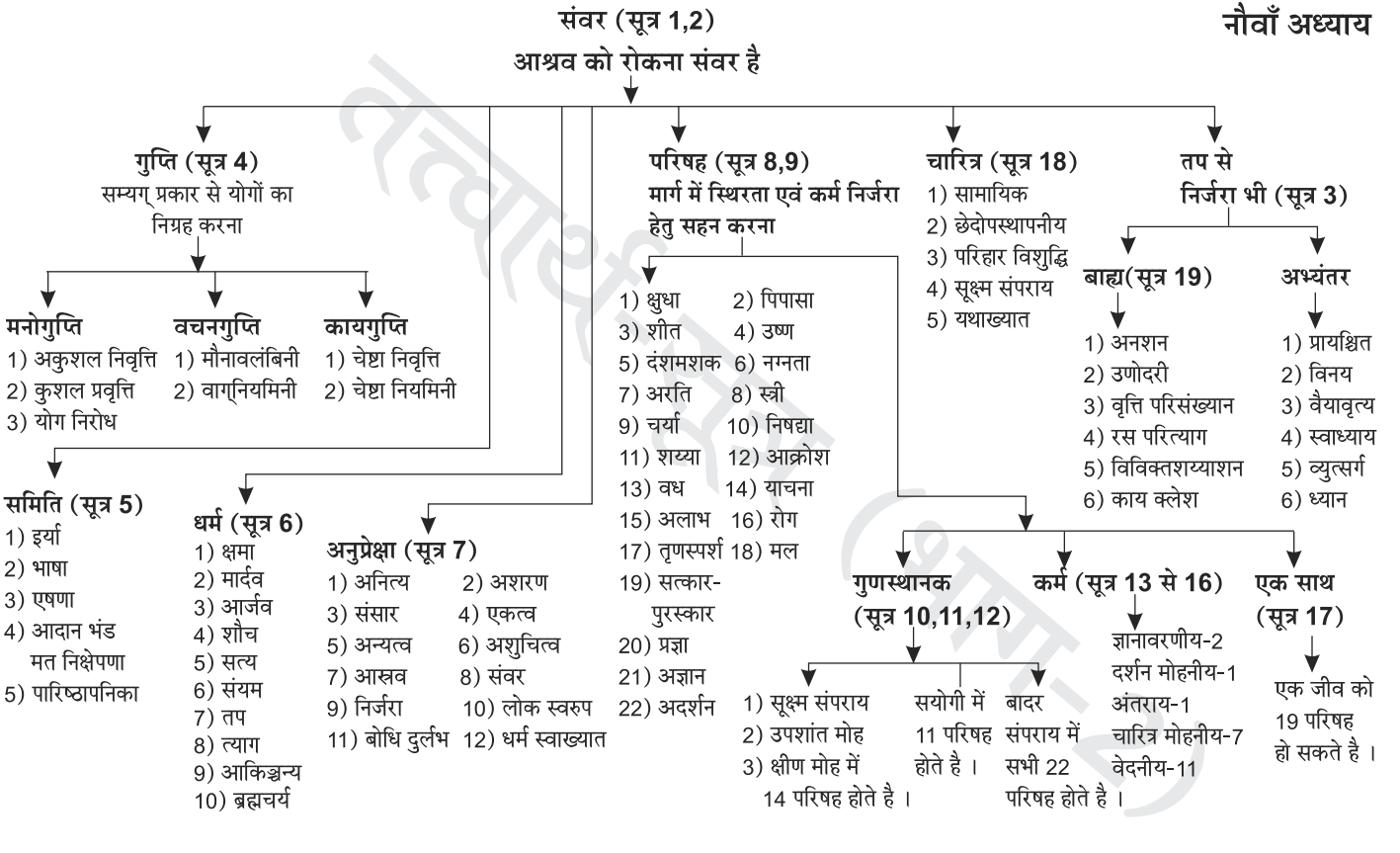
संवर (सूत्र 1,2)
आश्रव को रोकना संवर है
गुप्ति (सूत्र 4)
सम्यग् प्रकार से योगों का निग्रह करना
मनोगुप्ति
1) अकुशल निवृत्ति
2) कुशल प्रवृत्ति
3) योग निरोध
वचनगुप्ति
1) मौनावलंबिनी
2) वाग्नियमिनी
कायगुप्ति
1) चेष्टा निवृत्ति
2) चेष्टा नियमिनी
समिति (सूत्र 5)
1) इर्या
2) भाषा
3) एषणा
4) आदान भंड मत निक्षेपणा
5) पारिष्ठापनिका
धर्म (सूत्र 6)
1) क्षमा
2) मार्दव
3) आर्जव
4) शौच
5) सत्य
6) संयम
7) तप
8) त्याग
9) आकिञ्चन्य
10) ब्रह्मचर्य
अनुप्रेक्षा (सूत्र 7)
1) अनित्य
2) अशरण
3) संसार
4) एकत्व
5) अन्यत्व
6) अशुचित्व
7) आस्रव
8) संवर
9) निर्जरा
10) लोक स्वरुप
11) बोधि दुर्लभ
12) धर्म स्वाख्यात
परिषह (सूत्र 8,9)
मार्ग में स्थिरता एवं कर्म निर्जरा हेतु सहन करना
1) क्षुधा
2) पिपासा
3) शीत
4) उष्ण
5) दंशमशक
6) नग्नता
7) अरति
8) स्त्री
9) चर्या
10) निषद्या
11) शय्या
12) आक्रोश
13) वध
14) याचना
15) अलाभ
16) रोग
17) तृणस्पर्श
18) मल
19) सत्कार-पुरस्कार
20) प्रज्ञा
21) अज्ञान
22) अदर्शन
चारित्र (सूत्र 18)
1) सामायिक
2) छेदोपस्थापनीय
3) परिहार विशुद्धि
4) सूक्ष्म संपराय
5) यथाख्यात
तप से निर्जरा भी (सूत्र 3)
बाह्य (सूत्र 19)
1) अनशन
2) उणोदरी
3) वृत्ति परिसंख्यान
4) रस परित्याग
5) विविक्तशय्याशन
6) काय क्लेश
अभ्यंतर
1) प्रायश्चित
2) विनय
3) वैयावृत्य
4) स्वाध्याय
5) व्युत्सर्ग
6) ध्यान
गुणस्थानक (सूत्र 10,11,12)
1) सूक्ष्म संपराय
2) उपशांत मोह
3) क्षीण मोह में 14 परिषह होते है ।
सयोगी में 11 परिषह होते है ।
बादर संपराय में सभी 22 परिषह होते है ।
कर्म (सूत्र 13 से 16)
ज्ञानावरणीय-2
दर्शन मोहनीय-1
अंतराय-1
चारित्र मोहनीय-7
वेदनीय-11
एक साथ (सूत्र 17)
एक जीव को 19 परिषह हो सकते है ।

10

दसवाँ अध्याय

जीवादि तत्त्वों का वर्णन कर अब दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन करते हैं ।

केवलज्ञान का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञान–दर्शनावरणा–ऽन्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।10–1।।

सामान्य अर्थ :– मोह के क्षय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है ।

विवेचन :– केवलज्ञान यह आत्मा का विशुद्ध स्वरूप है । आत्मा का मूलभूत स्वरूप ही ज्ञान है ।

उस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति का उपाय इस सूत्र में बताया गया है ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व आत्मा का वीतराग होना जरूरी है ।

वीतराग बनने के लिए मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षय जरूरी है ।

ग्यारहवें गुणस्थानक में आत्मा मोह का क्षय नहीं करती है, परंतु मोह को उपशांत करती है, यद्यपि वहां भी आत्मा वीतराग तुल्य होती है, परंतु मोह का संपूर्ण क्षय नहीं होने से उस आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है ।

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुई आत्मा बारहवें गुणस्थानक में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षय करती है ।

मोहनीय का संपूर्ण क्षय हो जाने पर आत्मा वीतराग बन जाती है ।

वीतराग बनने के बाद वह एक साथ में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन तीन कर्मों की चौदह उत्तर प्रकृतियों का एक साथ में क्षय करती है, उनके ज्ञानावरणीय कर्म की भी 5 प्रकृतियों का संपूर्ण क्षय हो जाने से आत्मा पूर्ण ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी बनती है ।

जब आत्मा बाह्य–अभ्यंतर तप की साधना के द्वारा पूर्व में बँधे हुए कर्मों की भी निर्जरा कर देती है, तो आत्मा में कर्मों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है ।

अर्थात् संवर और निर्जरा की साधना के द्वारा आत्मा मोहनीय आदि कर्मों से सर्वथा मुक्त बनती है, तब आत्मा में वीतरागता व केवलज्ञान आदि गुण प्रकट होते हैं ।

मोक्ष की व्याख्या

कृत्स्न–कर्मक्षयो मोक्षः ।।10–3।।

सामान्य अर्थ :– संपूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है ।

विवेचन :– मोहनीय आदि चार घाती कर्मों का क्षय होने पर आत्मा केवली बनती है, परंतु जब तक शेष रहे अघाती कर्मों का संपूर्ण क्षय न हो तब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा के मोक्ष का उपाय बताया है ।

जब आत्मा घाती–अघाती संपूर्ण कर्मों का क्षय कर देती है, तब आत्मा का मोक्ष होता है ।

संपूर्ण कर्मों के क्षय का भी वही उपाय है अर्थात् नए कर्मों के आगमन का अभाव और पूर्व में बंधे हुए कर्मों की निर्जरा ।

जब आत्मा में संपूर्ण कर्मों के बंध के हेतुओं का अभाव हो जाता है तब आत्मा में नए कर्मों का आगमन बंद हो जाता है और तप आदि की साधना द्वारा पूर्व में बँधे हुए संपूर्ण कर्मों का भी क्षय हो जाता है, तो इन दोनों उपायों से आत्मा सभी कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, इसी को मोक्ष कहते हैं ।

किन भावों का अभाव होने पर मोक्ष की संभावना

औपशमिकादि–भव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व–ज्ञान–दर्शन–सिद्धत्वेभ्यः ।।10–4।।

योजन मोटी और किनारे पर मक्खी की पाँख के समान पतली है । यह सिद्धशिला निर्मल स्फटिक से बनी हुई सूक्ष्म, मनोहर, सुगंधित, पवित्र और परम प्रकाशमय ईषत्–प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है । सिद्धशिला और लोकांत के बीच में एक योजन का अंतर है ।

इस एक योजन में लोक के ऊपरी अंतिम एक कोस के छठे भाग में अर्थात् 333-1/3 धनुष जितने भाग में सिद्धों का वास है । मोक्ष में जाने की योग्यता वाले जीवों की उत्कृष्ट ऊँचाई 500 धनुष है । मोक्ष में जाने से पहले आत्मा जब शैलेषीकरण करती है, तब अपने शरीर की ऊँचाई के 1/3 भाग का संकोच कर देती है । इससे उनके शरीर की ऊँचाई के 2/3 भाग में रहे आत्मप्रदेश मोक्ष में जाते हैं । अतः मोक्ष में रहे सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) 333-1/3 धनुष अर्थात् एक कोस का छठा भाग है । शेष 3-5/6 कोस सिद्ध और सिद्धशिला के बीच की दूरी है ।

सिद्धशिला पर जहाँ सिद्ध भगवंत रहे हुए हैं, वहाँ 45 लाख योजन जितने क्षेत्र में एक तृण मात्र जितनी भी जगह नहीं है, जहाँ सिद्ध भगवंत न रहे हों । प्रत्येक प्रदेश में अनंत सिद्ध भगवंत विराजमान हैं । इससे स्पष्ट होता है कि, ढाई द्वीप के सभी क्षेत्रों से भूतकाल में अनंत आत्माएँ मोक्ष को प्राप्त हुई हैं । एक ज्योत में ज्योत मिलन की भाँति सिद्धात्माएँ एक–दूसरे में परस्पर मिली हुई हैं ।

कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त बनी आत्मा सिद्धशिला पृथ्वी को पारकर लोक के अग्र भाग में जाकर स्थित हो जाती है । अनंत काल तक वहीं रहती है । उसे पुनः कभी संसार में आना नहीं पड़ता ।

मनुष्यलोक से लोकाग्र के बीच 7 राजलोक का अंतर होने पर भी इस दूरी को पार करने में मुक्तात्मा को एक समय ही लगता है ।

मुक्तात्मा के ऊर्ध्वगमन का कारण

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्–बन्धच्छेदात्–तथागति परिणामाच्च तद्गतिः ।।10–6।।

3) बंधविच्छेद – संसार में आत्मा कर्मों के बंधन से बँधी हुई है । कर्मबंधन का विच्छेद होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है और ऊर्ध्वगमन करती है । जैसे एरंड का फल पक जाने के बाद जैसे ही उसके ऊपर का पटल सूख जाता है वह फल फट जाता है और उसमें रहा बीज उपर उछलता है । जब तक फल सूख कर फटता नहीं है, तब तक बीज उछलता नहीं है क्योंकि बीज को फल के पटल का बंधन है ।

वैसे ही जब आत्मा कर्म के बंधन से मुक्त होती है तब बंध-विच्छेद के हेतु से आत्मा की ऊर्ध्व गति होती है ।

4) तथागति परिणाम – धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों में से मात्र जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय द्रव्य ही गतिशील हैं । इनमें से पुद्गलास्तिकाय सभी दिशाओं में गति करने के स्वभाववाला है, जबकि जीवास्तिकाय (अर्थात् आत्मा) मात्र ऊर्ध्व गति के स्वभाववाला है । फिर भी आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का बंधन होने से संसारी आत्मा को सभी दिशाओं में गति करनी पड़ती है । जैसे ही आत्मा कर्मबंधन से मुक्त हो जाती है, वह अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार ऊर्ध्व गति करती है ।

सिद्धों के स्वरुप की विचारणा

क्षेत्र–काल–गति–लिङ्ग–तीर्थ–चारित्र–प्रत्येकबुद्ध–बोधित–ज्ञाना–ऽवगाहना–ऽन्तर–संख्या–ऽल्पबहुत्वतः साध्याः ।।10–7।।

सामान्य अर्थ :– सिद्ध जीवों की विशेष विचारणा हेतु– 1. क्षेत्र, 2. काल, 3. गति, 4. लिङ्ग, 5. तीर्थ, 6. चारित्र, 7. प्रत्येकबुद्ध– बोधित, 8. ज्ञान, 9. अवगाहना, 10. अन्तर 11. संख्या और 12. अल्पबहुत्व ये बारह द्वार बताए हैं ।

विवेचन :– पूर्व के सूत्र में मोक्षतत्त्व का बोध कराने के लिए कर्मक्षय में हेतु, मोक्ष का स्वरूप, औपशमिक आदि तीन भावों का अभाव, कर्मक्षय से आत्मा की ऊर्ध्व गति एवं ऊर्ध्व गति के कारणों का निर्देश करके

आरे के संख्यात वर्ष शेष रहे हो तब और चौथे आरे में जन्मे हुए मनुष्यों का मोक्ष हो सकता है । शेष पहले, दूसरे, पाँचवें और छठे आरे के संपूर्ण काल में एवं तीसरे आरे के अंतिम संख्यात वर्ष के सिवाय के काल में जन्मे हुए मनुष्यों का मोक्ष नहीं होता । उत्सर्पिणी काल के संपूर्ण तीसरे आरे एवं चौथे आरे के संख्यात वर्ष तक के काल में जन्मे हुए मनुष्यों का मोक्ष हो सकता है । शेष पहले, दूसरे, पाँचवें, छठे एवं चौथे आरे के संख्यात काल सिवाय के काल में जन्मे हुए मनुष्यों का मोक्ष नहीं होता है ।

(ii) संहरण काल – संहरण से सभी काल में मोक्ष होता है ।

3. गति – गति की अपेक्षा मोक्ष को पाँचवीं सिद्धि गति कहा जाता है । अतः वर्तमान काल की अपेक्षा सिद्धि गति में सिद्ध होते हैं । भूतकाल की अपेक्षा गति के भी दो भेद हैं–

(i) अनंतर गति – अन्य गति में जन्म के अंतराल बिना मात्र मनुष्य गति से ही जीव सिद्ध होते हैं ।

(ii) परंपर गति – परंपर गति से चारों गति से जीव सिद्ध होते हैं अर्थात् चारों गति से आये जीव मनुष्य गति में से सिद्ध होते हैं ।

4. लिंग – मोक्ष में सभी कर्मों का अभाव होने से लिंग का भी अभाव है । अतः वर्तमान काल की अपेक्षा लिंगरहित जीव सिद्ध होते हैं । भूतकाल की अपेक्षा लिंग के भी दो भेद हैं–

(i) अनंतर लिंग और (ii) परम्पर लिंग – इन दोनों भेदो में तीनों लिंग (पुरुष, स्त्री और नपुंसक) से जीव सिद्ध होते हैं ।

अन्य अपेक्षा द्रव्यलिंग और भावलिंग दो भेदों में–

(1) द्रव्यलिंग में–वर्तमान की अपेक्षा द्रव्यलिंग रहित ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप भावलिंग से जीव सिद्ध होते हैं । भूतकाल की अपेक्षा द्रव्यलिंग के तीन भेद हैं–

(i) स्वलिंग – रजोहरण, मुँहपत्ति आदि साधुवेश युक्त ।

(ii) अन्यलिंग – परिव्राजक आदि अन्य धर्मी के वेश युक्त ।

जो स्वयं ही बोध पाकर सिद्ध होते हैं, वे स्वयंबुद्ध हैं । तीर्थंकर और प्रत्येकबुद्ध स्वयंबुद्ध हैं ।

(ii) बुद्धबोधित – किसी के उपदेश को पाकर जो सिद्ध होते हैं वे बुद्धबोधित हैं । अन्य सभी जीव बुद्धबोधित हैं ।

8. ज्ञान – वर्तमान काल की अपेक्षा मात्र केवलज्ञानी सिद्ध होते हैं । भूतकाल की अपेक्षा मति, श्रुत–ये दो ज्ञान अथवा मति, श्रुत, अवधि–ये तीन ज्ञान, अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव–ये चार ज्ञान इनके बाद केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं ।

9. अवगाहना – आत्मप्रदेशों के रहने की जगह अथवा शरीर की ऊँचाई अवगाहना है । वर्तमान काल की अपेक्षा उनके पूर्वभव की काया की 2/3 अवगाहना वाले जीव सिद्ध होते हैं । भूतकाल की अपेक्षा उत्कृष्ट से 502 से 509 धनुष की काया वाले जीव सिद्ध हो सकते हैं और जघन्य से 2 से 9 अंगुल न्यून दो हाथ की काया वाले जीव सिद्ध हो सकते हैं ।

10. अन्तर – जीव अन्तर रहित भी सिद्ध होते हैं और अंतर से भी सिद्ध होते हैं । अन्तर रहित सिद्ध दो समय से लेकर आठ समय तक लगातार सिद्ध हो सकते हैं । आठ समय तक सिद्ध होने के बाद नौवें समय में अवश्य अंतर होता है । लगातार नौवें समय में जीव सिद्ध नहीं होते हैं । यह अंतर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह महीनों का होता है । कम से कम छह महीने में एक आत्मा अवश्य सिद्ध होती है ।

11. संख्या – एक समय में जघन्य से एक आत्मा और उत्कृष्ट से 108 आत्माएँ सिद्ध होती हैं । अन्तर रहित, 8 समय तक यदि सिद्ध हों तो एक से बत्तीस आत्माएँ सिद्ध हो सकती हैं । सात समय तक यदि सिद्ध हों तो तैंतीस से अड़तालीस आत्माएँ सिद्ध हो सकती हैं । छह समय तक यदि सिद्ध हों तो उन्चालीस से साठ आत्माएँ सिद्ध हो सकती हैं । पाँच समय तक यदि सिद्ध हों तो इकसठ से बहत्तर आत्माएँ सिद्ध हो सकती हैं । चार समय तक यदि सिद्ध हों तो तिहत्तर से चौरासी

(7) प्रत्येक बुद्धबोधित – स्वयंबुद्ध सबसे अल्प होते हैं, बुद्धबोधित संख्यात गुणा होते हैं ।

(8) ज्ञान – केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले, मात्र मति, श्रुत ज्ञानी सिद्ध सबसे अल्प होते हैं । उनसे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव ज्ञानी सिद्ध संख्यात गुणा होते हैं । उनसे मति, श्रुत, अवधिज्ञानी सिद्ध संख्यात गुणा होते हैं ।

(9) अवगाहना – जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सबसे अल्प हैं । उनसे उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध असंख्यात गुणा हैं । एवं उत्कृष्ट से कम अवगाहनावाले असंख्यात गुणा हैं, शेष विशेषाधिक हैं ।

(10) अंतर – निरंतर आठ समय तक होने वाले सिद्ध सबसे अल्प हैं । उसके बाद क्रमशः सात, छह से लेकर दो समय तक अनंतर सिद्ध संख्यात गुणा हैं ।

(11) संख्या – एक साथ 108 सिद्ध सबसे अल्प हैं । उसके बाद पिछले क्रम से 107 से 50 तक के सिद्ध उससे अनंत गुणा हैं । फिर 49 से 25 तक के सिद्ध उससे असंख्यात गुणा हैं । फिर 24 से लेकर 1 तक के सिद्ध उससे संख्यात गुणा हैं ।

वाचकवर्य श्री उमास्वाति महाराज विरचित श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र–संबन्ध कारिका

सम्यग्दर्शनशुद्धं, यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं, तेन सुलब्धं भवति जन्म ।।1।।

अर्थ :– जो सम्यग्दर्शन से युक्त शुद्ध ज्ञान और चारित्र प्राप्त करता है, उसका दुःख के कारणरुप भी यह मनुष्यजन्म सफल होता है ।

जन्मनि कर्मक्लेशै-रनुबद्धेऽस्मिंस्तथा प्रयतितव्यम् ।
कर्मक्लेशाभावो, यथा भवत्येष परमार्थः ।।2।।

अर्थ :– कर्म और क्लेश से युक्त इस जन्म में ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे कर्म और क्लेश का सर्वथा अभाव हो जाय, यही परमार्थ है ।

परमार्थालाभे वा, दोषेष्वारम्भकस्वभावेषु ।
कुशलानुबन्धमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ।।3।।

अर्थ :– आरंभ में प्रवृत्ति करने के स्वभाववाले कषाय आदि दोषों की विद्यमानता के कारण कदाचित् (कर्म और क्लेश के सर्वथा अभाव रूप) परमार्थ प्राप्त न हो सके तो कम–से–कम कुशल कर्म रूप पुण्यानुबंधी पुण्य का अनुबंध हो, ऐसे अनवद्य कार्य करने चाहिए ।

कर्माहितमिह चामुत्र, चाधमतमो नरः समारभते ।
इह फलमेव त्वधमो, विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ।।4।।
परलोकहितायैव, प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।
मोक्षायैव तु घटते, विशिष्टमतिरुत्तमःपुरुषः ।।5।।
यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तम-मवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।
नित्यं स उत्तमेभ्यो-ऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ।।6।।

अर्थ :– इन तीन श्लोकों में जगत्वर्ती मनुष्यों के छह भेद बताए हैं–

1) अधमतम (अधमाधम) मनुष्य इसलोक और परलोक में अहितकारी कार्य करते हैं ।

प्रतिदिन धर्मोपदेश देना । जैसे सूर्य अपने स्वभाव से ही लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही तीर्थंकर भी अपने स्वभाव से ही तीर्थप्रवर्तन की प्रवृत्ति करते हैं ।

यः शुभकर्मासेवन-भावितभावो भवेष्वनेकेषु ।
जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकुषु, सिद्धार्थनरेन्द्र-कुलदीपः ।।11।।

अर्थ :– जो पूर्व के अनेक भवों में शुभक्रिया के अभ्यास से अपनी आत्मा को शुभभावों से भावित करनेवाले, ऐसे भगवान महावीर अपने अंतिम भव में ज्ञात-इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न होकर सिद्धार्थ राजा के कुलदीपक बने ।

ज्ञानैः पूर्वाधिगतै-रप्रतिपतितैर्मतिश्रुतावधिभिः।
त्रिभिरपि शुद्धैर्युक्तः, शैत्यद्युतिकान्तिभिरिवेन्दुः।।12।।

अर्थ :– जैसे चन्द्रमा शीतलता, द्युति और कान्ति से युक्त होता है, वैसे ही भगवान महावीर जन्म के पूर्व समय से ही अप्रतिपाती मति, श्रुत और अवधि–इन तीन ज्ञानों से युक्त थे ।

शुभसार-सत्त्व-संहनन-वीर्य-माहात्म्य-रूप-गुण-युक्तः।
जगति महावीर इति, त्रिदशैर्गुणतःकृताभिख्यः ।।13।।

अर्थ :– शुभ–उत्तम सत्त्व, शुभ संघयण, लोकोत्तर वीर्य, उपमातीत माहात्म्य, सुंदर रूप एवं विनय–विवेक दाक्षिण्य आदि विशिष्ट गुणों से युक्त थे । इन गुणों के कारण ही देवताओं द्वारा जगत् में **'महावीर'** इस प्रकार नाम किया गया ।

स्वयमेव बुद्धतत्त्वः, सत्त्वहिताभ्युद्यताचलितसत्त्वः ।
अभिनन्दित-शुभ-सत्त्वः, सेन्द्रैर्लोकान्तिकैर्देवैः ।।14।।

अर्थ :– वे स्वयं ही तत्त्व के ज्ञाता थे, जीवों का हित करने के लिए उद्यत एवं निश्चल सत्त्व वाले थे । इसलिए इन्द्र और लोकान्तिक देवों द्वारा उनके शुभ सत्त्व की प्रशंसा की गई थी ।

जन्मजरामरणार्त्तं, जगदशरणमभिसमीक्ष्य निःसारम् ।
स्फीतमपहाय राज्यं, शमाय धीमान् प्रवव्राज ।।15।।

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्षये नमस्कारम् ।
पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ।।21।।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, बह्वर्थसंग्रहं लघुग्रन्थम् ।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिम-महद्वचनैकदेशस्य ।।22।। (युग्मम्)

अर्थ :– जिनका मोह विलीन हो चुका है, ऐसे परम ऋषि और सबसे अधिक पूज्य–भगवान श्री महावीर को मन–वचन–काया रूप त्रिकरण से नमस्कार करके शिष्य के हित के लिए अरिहंत के वचन के एक भाग रूप विशाल अर्थ वाले तत्त्वार्थाधिगम नाम के लघु ग्रंथ को कहता हूँ।

महतोऽतिमहाविषयस्य, दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं, जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ।।23।।

अर्थ :– जिनके ग्रंथ और ग्रंथार्थ का पार पाना दुर्गम है–अत्यंत कष्ट से प्राप्त कर सकते हैं, तथा जिसमें महान् से भी महान् विषय है, ऐसे महान् जिनवचन रूप समुद्र का संग्रह करने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है।

शिरसा गिरिं बिभित्से-दुच्चिक्षिप्सेच्च स क्षितिं दोर्भ्याम् ।
प्रतितीर्षेच्च समुद्रं, मित्सेच्च पुनः कुशाग्रेण ।।24।।
व्योम्नीन्दुं चिक्रमिषेन्मेरुगिरिं पाणिना चिकम्पयिषेत् ।
गत्याऽनिलं जिगमिषे-च्चरम समुद्रं पिपासेच्च ।।25।।
खद्योतकप्रभाभिः, सोऽभिबुभूषेच्च भास्करं मोहात् ।
योऽतिमहाग्रन्थार्थं, जिनवचन-संजिघृक्षेत ।।26।। (विशेषकम्)

अर्थ :– इन तीन श्लोकों के द्वारा जिन–वचन को संग्रहित करना कितना कठिन है, यह बताते हैं–जो व्यक्ति अतिशय महाग्रंथ और ग्रंथार्थ से भरे जिनवचनों को संग्रह करने की इच्छा करता है, वह मोह से–अज्ञानता से मस्तक के द्वारा पर्वत तोडने की, दो हाथों द्वारा पृथ्वी को खींचने की, अपनी दो भुजाओं द्वारा स्वयंभूरमण समुद्र तैरने की, घास के अग्र भाग से समुद्र को मापने की, आकाश में रहे चंद्र का उल्लंघन करने की, हाथ से मेरुपर्वत को कंपित करने की, अपनी तेज

'अन्तिम उपदेश रूप कारिका'

एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्, विरक्तस्यात्मनो भृशम् ।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां, नवायां कर्मसन्ततौ ।।1।।
पूर्वार्जितं क्षपयतो, यथोक्तैः क्षयहेतुभिः ।
संसारबीजं कात्स्न्र्येन, मोहनीयं प्रहीयते ।।2।।

अर्थ :– इस तरह सम्यक् प्रकार से तत्त्वों को जानने से विरक्त जीव आश्रवों को सर्वथा रोककर, नए कर्मों की संतति का छेद कर पूर्व में बंधे हुए कर्मों को शास्त्रों में बताए कर्मक्षय के हेतुओं से क्षय करता हुआ संसार के बीज स्वरूप मोहनीय कर्म का संपूर्ण नाश करता है ।

ततोऽन्तरायज्ञानघ्न, दर्शनघ्नान्यनन्तरम् ।
प्रहीयतेऽस्य युगपत्, त्रीणि कर्माण्यशेषतः ।।3।।

अर्थ :– मोहनीय के नष्ट होने पर तुरंत ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय ये तीनों कर्म भी पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते है ।

गर्भसूच्यां विनष्टायां, यथा तालो विनश्यति ।
तथा कर्मक्षयं याति, मोहनीये क्षयं गते ।।4।।

अर्थ :– जैसे गर्भसूचि अर्थात् ताड़वृक्ष में रहे मध्य तंतु–के नाश होने पर संपूर्ण ताड़वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के क्षय होने पर शेष सभी कर्मों का क्षय हो जाता है ।

ततः क्षीणचतुष्कर्मा, प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम् ।
बीजबन्धननिर्मुक्तः, स्नातकः परमेश्वरः ।।5।।
शेषकर्मफलापेक्षः, शुद्धो बुद्धो निरामयः ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च, जिनो भवति केवली ।।6।।

अर्थ :– तत्पश्चात् जिसने चारों घाति कर्मों का क्षय कर यथाख्यात संयम प्राप्त किया है और बीजबन्धन से निर्मुक्त अर्थात् मोहनीय कर्म से मुक्त बने महात्मा–अन्तर्मल दूर करने से स्नान किये हुए स्नातक एवं केवलज्ञान रूप परम ऋद्धि और ऐश्वर्य वाले परमेश्वर बनते हैं । शेष अघातिकर्म के उदय वाले होने पर भी वे शुद्ध, बुद्ध, बाह्य–अभ्यंतर रोग से मुक्त–निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिन और केवली होते हैं ।

अर्थ :– जैसे यंत्रपेटा के बंधन टूटने पर एरंडी के फल में बीज की ऊर्ध्व गति होती है–ऊपर का बंधन टूटने पर बीज ऊपर उछलता है, वैसे कर्मबंधन के विच्छेद से सिद्धों की ऊर्ध्व गति होती है ।

ऊर्ध्वगौरवधर्माणो, जीवा इति जिनोत्तमैः ।
अधोगौरवधर्माणः, पुद्गला इति चोदितम् ।।13।।

अर्थ :– आत्मा ऊर्ध्व गति के स्वभाव वाली है और पुद्गल अधो गति के स्वभाव वाले हैं–इस प्रकार जिनेश्वरों ने कहा है ।

यथाऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवाय्वग्निवीतयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोर्ध्वं गतिरात्मनाम् ।।14।।

अर्थ :– जैसे पाषाण स्वभाव से ही नीचे गति करता है, वायु स्वभाव से ही तिर्च्छी गति करती है और अग्नि स्वभाव से ही ऊपर गति करती है वैसे ही आत्मा की स्वभाव से ऊर्ध्व गति होती है ।

अतस्तु गतिवैकृत्य-मेषां यदुपलभ्यते ।
कर्मणः प्रतिघाताच्च, प्रयोगाच्च तदिष्यते ।।15।।

अर्थ :– फिर भी आत्मा आदि की जो स्वभाव से विरुद्ध गति दिखती है, वह कर्म, प्रतिघात और प्रयोग के कारणों से होती है । यहाँ कर्म अर्थात् क्रिया, प्रतिघात अर्थात् दीवाल आदि से टकराव और प्रयोग अर्थात् गतिशील पुरुष की इच्छा ।

अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च, जीवानां कर्मजा गतिः ।
ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा, भवति क्षीणकर्मणाम् ।।16।।

अर्थ :– जीवों की कर्मों के कारण ऊर्ध्व, अधो और तिर्च्छी ये तीन गतियाँ होती हैं, जबकि जिनके कर्म क्षय हो चुके हैं, उन सिद्ध जीवों की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होती है ।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः ।
समं तथैव सिद्धस्य, गतिमोक्षभवक्षयाः ।।17।।

अर्थ :– जैसे द्रव्य संबन्धी क्रिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश एक साथ एक ही समय में होता है । वैसे सिद्ध जीवों की लोक के अंत पर गति, मोक्ष और भवपरंपरा का क्षय एक साथ में होता है ।

अतीत, कभी कम न होने से अव्यय, शाश्वत और दुःखों से रहित है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है ।

स्यादेतदशरीरस्य, जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथं भवति मुक्तस्य, सुखमित्यत्र मे शृणु ।।24।।
लोके चतुष्विहार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाऽभावे, विपाके मोक्ष एव च ।।25।।
सुखो वह्निःसुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति मन्यते ।।26।।
पुण्यकर्मविपाकाच्च, सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च, मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।।27।।

अर्थ :– ग्रंथकारश्री ने यहाँ **'स्यात्'** शब्द से प्रश्न किया है कि–मुक्तात्माएँ यदि आठ कर्म और शरीर से रहित हैं, तो उन्हें सुख कैसे होता है ? **शृणु** शब्द से उत्तर में कहा है–लोक में सुख शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है– वह इस प्रकार–

(i) विषयजन्य सुख :– अग्नि सुखकारी है, वायु सुखकारी है–इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के विषय में सुख शब्द का प्रयोग होता है ।

(ii) दुःख के अभाव रूप सुख :– दुःख का अभाव होने पर मैं सुखी हूँ, इस प्रकार सुख शब्द का प्रयोग होता है ।

(iii) पुण्य के विपाक रूप सुख :– पुण्य कर्म का उदय होने पर मनपसंद इन्द्रियों के विषय से पैदा होने वाले अनुभव में सुख शब्द का प्रयोग होता है ।

(iv) मोक्ष रूप सुख :– कर्म और क्लेश से मुक्त होने के कारण मोक्ष में उत्तम सुख होता है ।

सुखप्रसुप्तवत् केचिदिच्छन्ति परिनिवृतिम् ।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्, सुखानुशयतस्तथा ।।28।।
श्रम-क्लम-मद-व्याधि–मदनेभ्यश्च संभवात् ।
मोहोत्पत्तेर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः ।।29।।

तत्त्वार्थ सूत्र प्रशस्तिः

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दि क्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ।।1।।
वाचनया च महावाचक क्षमण मुण्डपादशिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्त्तेः ।।2।।
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ह्यम् ।।3।।
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्त्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ।।4।।
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ।।5।।

अर्थ :– जगत् में जिनका यश प्रकट है, ऐसे वाचकमुख्य शिवश्री के प्रशिष्य, ग्यारह अंगों के ज्ञाता–घोषनंदि क्षमाश्रमण के शिष्य, वाचना प्रदान करने की अपेक्षा महावाचक श्रमण मुंडपाद के शिष्य विस्तृत कीर्ति वाले मूल नाम के वाचकाचार्य के शिष्य, कौभीषण गोत्रवाले, स्वाति नामक पिता और वात्सी गोत्रवाली उमा नामक माता के पुत्र, न्यग्रोधिका नगरी में पैदा हुए कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नगर में विचरते उच्चानागर शाखा के वाचक **श्री उमास्वातिजी** ने गुरुपरंपरा से प्राप्त हुए अरिहंत परमात्मा के महामूल्यवान वचनों को अच्छी तरह से धारण कर समझकर, जगत् के आधि–व्याधि और उपाधि रूप दुःखों से पीड़ित और अन्यमतों के असत्य आगम को पढ़ने से नष्टबुद्धि वालों को देखकर, जीवों के प्रति अनुकंपा के द्वारा स्पष्ट अर्थ वाले ऐसे **तत्त्वार्थाधिगम** नाम के शास्त्र की रचना की है ।

यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधंसुखाख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ।।6।।

ग्रंथ का महत्त्व–जो तत्त्वार्थाधिगम नाम के इस शास्त्र को जानेगा और उसमें कहे शास्त्र के अर्थानुसार आचरण करेगा वह अल्प काल में बाधा रहित अव्याबाधसुख और परमार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा ।

द्वितीयोऽध्यायः

1. औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक-पारिणामिकौ च ।
2. द्वि-नवा-ऽष्टादशैकविंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ।
3. सम्यकत्वचारित्रे ।
4. ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ।
5. ज्ञाना-ऽज्ञान-दर्शन-दानादि-लब्धयश्चतुस्त्रित्रि-पंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र संयमाऽसंयमाश्च ।
6. गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शना-ऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्या-श्चतु-श्चतुस्त्र्येकै-कै-कैकषड्भेदाः ।
7. जीव-भव्याभव्यत्वादीनि च ।
8. उपयोगो लक्षणम् ।
9. स द्विविधोऽष्ट-चतुर्भेदः ।
10. संसारिणो मुक्ताश्च ।
11. समनस्काऽमनस्काः ।
12. संसारिणस्त्रस-स्थावराः ।
13. पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।
14. तेजो-वायू-द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।
15. पंचेन्द्रियाणि ।
16. द्विविधानि ।
17. निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।
18. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।
19. उपयोगः स्पर्शादिषु ।
20. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ।
21. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषामर्थाः ।
22. श्रुतमनिन्द्रियस्य ।
23. वाय्वन्तानामेकम् ।
24. कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक वृद्धानि ।
25. संज्ञिनः समनस्काः ।
26. विग्रहगतौ कर्मयोगः ।
27. अनुश्रेणि गतिः ।
28. अविग्रहा जीवस्य ।
29. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।
30. एक-समयोऽविग्रहः ।
31. एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।
32. सम्मूर्च्छन-गर्भोपपाताज्जन्म ।
33. सचित्त-शीत-संवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।
34. जरा-ण्डज-पोतजानां गर्भः ।
35. नारक-देवानामुपपातः ।
36. शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।
37. औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।
38. परं परं सूक्ष्मम् ।

चतुर्थोऽध्यायः

1. देवाश्चतुर्निकायाः ।
2. तृतीयः पीतलेश्यः ।
3. दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।
4. इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्यात्मरक्ष-लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ।
5. त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।
6. पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।
7. पीतान्तलेश्याः ।
8. कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।
9. शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो ।
10. परेऽप्रवीचाराः ।
11. भवनवासिनोऽसुर-नागविद्युत्-सुपर्णाग्नि-वातस्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ।
12. व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः।
13. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रह-नक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च ।
14. मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।
15. तत्कृतः कालविभागः ।
16. बहिरवस्थिताः ।
17. वैमानिकाः ।
18. कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।
19. उपर्युपरि ।
20. सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्त्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सवार्थसिद्धे च ।
21. स्थिति प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ।
22. गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ।
23. पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ।
24. प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।
25. ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ।
26. सारस्वतादित्यवह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता-व्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च।
27. विजयादिषु द्विचरमाः ।
28. औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।
29. स्थितिः ।
30. भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ।

22. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।
23. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।
24. शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद तम-श्छायाऽऽत-पोद्योतवन्तश्च ।
25. अणवः स्कन्धाश्च ।
26. संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।
27. भेदादणुः ।
28. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ।
29. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ।
30. तद्भावाव्ययं नित्यम् ।
31. अर्पितानर्पित-सिद्धेः ।
32. स्निग्ध-रुक्षत्वाद्-बंधः ।
33. न जघन्य-गुणानाम् ।
34. गुणसाम्ये सदृशानाम् ।
35. द्व्यधिकादिगुणानां तु ।
36. बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।
37. गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ।
38. कालश्चेत्येके ।
39. सोऽनन्तसमयः ।
40. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।
41. तद्भावः परिणामः ।
42. अनादिरादिरमांश्च ।
43. रूपिष्वादिमान् ।
44. योगोपयोगौ जीवेषु ।

षष्टमोऽध्यायः

1. काय-वाङ् मनःकर्मयोगः ।
2. स आश्रव ।
3. शुभः पुण्यस्य ।
4. अशुभः पापस्य ।
5. सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।
6. अव्रत-कषायेन्द्रिय-क्रियाः पंच-चतुः-पंच पंचविंशति संख्या पूर्वस्य भेदाः ।
7. तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ऽज्ञातभाव-वीर्याऽधिकरण विशेषेभ्यस्त-द्विशेषः ।
8. अधिकरणं जीवाऽजीवाः ।
9. आद्यं संरम्भ-समारम्भाऽऽरम्भ-योग-कृत-कारिताऽनुमत-कषाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।
10. निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतु-र्द्वि-त्रिभेदाः परम् ।
11. तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्या-ऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञान-दर्शनाऽऽवरणयोः।
12. दुःख-शोक-तापा-ऽऽक्रन्दन-वध-परिदेवना-न्यात्मपरोभय-स्थान्य सद्वेद्यस्य ।

10. अदत्तादानं स्तेयम् ।
11. मैथुनमब्रह्म ।
12. मूर्च्छा परिग्रहः ।
13. निःशल्यो व्रती ।
14. अगार्यनगारश्च ।
15. अणुव्रतो-ऽगारी ।
16. दिग्देशा-ऽनर्थदण्डविरति-सामायिक-पौषधोपवासोपभोग परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंवि-भागव्रतसंपन्नश्च ।
17. मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता।
18. शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सा ऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः ।
19. व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।
20. बन्ध-वध-छविच्छेदा-ऽतिभारा-रोपणाऽन्नपान निरोधाः ।
21. मिथ्योपदेश-रहस्याभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमंत्रभेदाः ।
22. स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्ध-राज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहाराः।
23. परविवाह-करणेत्वर-परिगृहीता ऽपरिग्रहीतागमना-ऽनङ्गक्रीडा-तीव्रकामाभिनिवेशाः ।
24. क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-प्रमाणाऽतिक्रमाः ।
25. ऊर्ध्वा-धस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि स्मृत्यन्तर्धानानि ।
26. आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपा-ऽनुपात पुद्गलक्षेपाः ।
27. कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-ऽसमीक्ष्याऽधिकरणोपभोगा-ऽधिकत्वानि ।
28. योग-दुष्प्रणिधाना-ऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ।
29. अप्रत्यवेक्षिता-ऽप्रमार्जितोत्सर्गा-ऽऽदान निक्षेप संस्तारोपक्रम-णाऽनादर-स्मृत्यनुप स्थापनानि ।
30. सचित्त-सबंद्ध-संमिश्रा-ऽभिषव दुष्पक्वाऽऽहाराः ।
31. सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य कालाऽतिक्रमाः ।
32. जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखाऽनुबन्ध-निदानकरणानि ।
33. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो-दानम् ।

22. विपाकोऽनुभावः ।
23. स यथानाम ।
24. ततश्च निर्जरा ।
25. नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्राऽवगाढ-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः ।
26. सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायु-र्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ।

नवमोऽध्यायः

1. आश्रव-निरोधः संवरः ।
2. स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परीषहजय चारित्रैः ।
3. तपसा निर्जरा च
4. सम्यग् योग निग्रहो गुप्तिः ।
5. ईर्या-भाषैषणा-ऽऽदान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।
6. उत्तमः क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।
7. अनित्या-ऽशरण-संसारैकत्वा-ऽन्यत्वाऽशुचित्वा-ऽऽश्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-तत्त्वानुचिन्तन-मनुप्रेक्षाः ।
8. मार्गा-ऽच्यवन-निर्जरार्थं-परिषोढव्याः परीषहाः ।
9. क्षुत्-पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्याऽरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-ऽऽक्रोश-वध-याचना-ऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञा-ऽज्ञाना-ऽदर्शनानि ।
10. सूक्ष्मसंपराय-छद्मस्थ-वीत-रागयोश्चतुर्दश ।
11. एकादश जिने ।
12. बादर संपराये सर्वे ।
13. ज्ञानावरणे प्रज्ञा-ऽज्ञाने ।
14. दर्शनमोहा-ऽन्तराययो-रदर्शना-ऽलाभौ ।
15. चारित्रमोहे नाग्न्या-ऽरति-स्त्री-निषद्याऽऽक्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्काराः ।
16. वेदनीये शेषाः ।
17. एकादयो भाज्या युगपदेकोन-विंशतेः ।
18. सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहार-विशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम् ।
19. अनशना-ऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-

48. पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ।

49. संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग लेश्योपपात-स्थान-विकल्पतः साध्याः ।

दशमोऽध्यायः

1. मोहक्षयाज्-ज्ञान-दर्शनावरणा-ऽन्तरायक्षयाच्च केवलम् ।
2. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्याम् ।
3. कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः ।
4. औपशमिकादि-भव्यत्वा-ऽभावाच्चाऽन्यत्रकेवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ।
5. तदनन्तर-मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्ताद् ।
6. पूर्वप्रयोगा-दसङ्गत्वाद्-बन्ध-च्छेदात्तथागति-परिणामाच्च तद्गतिः ।
7. क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञाना-ऽवगाहना-ऽन्तर संख्या-ऽल्पबहुत्वतः साध्याः ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**
द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 230 पुस्तकों
में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	35.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	36.	ध्यान साधना	40/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	37.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	38.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	39.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	40.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	41.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	220/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	42.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
9.	विवेकी बनो	90/-	43.	दंडक सूत्र	50/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	44.	जीव विचार विवेचन	60/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	45.	नव तत्त्व-विवेचन	60/-
12.	श्रमण-क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-	46.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
13.	प्रवचन-वर्षा	60/-	47.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
14.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	48.	गणधर-संवाद	80/-
15.	आओ श्रावक बनें !	25/-	49.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
16.	व्यसन-मुक्ति	100/-	50.	नवपद आराधना	80/-
17.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	51.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
18.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-	52.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
19.	जैन-महाभारत	130/-	53.	पाँचवाँ कर्मग्रंथ	100/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	54.	संस्मरण	50/-
21.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	55.	भव आलोचना	10/-
22.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	56.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
23.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	57.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
24.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	58.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
25.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	59.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
26.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-	60.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
27.	समाधि मृत्यु	80/-	61.	अर्हद् दिव्य-संदेश (दीक्षा-विशेषांक)	60/-
28.	The Way of Metaphysical Life	60/-	62.	'बेंगलोर' प्रवचन-मोती	140/-
29.	Pearls of Preaching	60/-	63.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
30.	New Message for a New Day	600/-	64.	जीव-विचार-विवेचन	100/-
31.	Celibacy	70/-	65.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
32.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	66.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
33.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	67.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
34.	अमृत रस का प्याला	300/-	68.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299